* श्रीः *

समीक्षा चक्रवर्ति स्वर्गीय विद्वद्वर
पं० श्रीमधुसूदन ओझा विद्यावाचस्पति विरचितम्

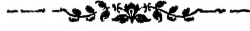
(ब्रह्मविज्ञान विभागे दिव्यविभूतौ)

जगद्गुरुवैभवम्



तदिदम्

तदात्मजेन **पं. श्रीप्रद्युम्नशर्मणा** संपादितं प्रकाशितञ्च



यत्र प्रदर्श्या विषया पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तद् ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥



प्रथमावृत्तिः | विक्रम सं० १९९९ | मूल्यम् १।)



समीक्षाचक्रवर्ती

स्वर्गीय पं. मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति।

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बम्बई.

॥ श्रीः ॥

भूमिका

(मानवजाति का प्राचीन इतिहास)



इतिहास शब्द 'इति' 'ह' 'आस' इन तीन संस्कृत शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ 'ये' 'ही' 'था' से मिलकर बना है, अत पुरानी कथाओं का सूचक है।

पुराने से पुराना पुस्तक ऋग्वेद है इस बात को सारे संसारने मानलिया है वेदों का अर्थ समझने के अनेक साधन होते हुए भी वास्तविक बातों का पता नहीं लगता। कारण इसका यह है कि कन्दमूल फल खाकर जीने वाले निःस्वार्थी ऋषि महर्षियों के इस संग्रह की वह प्राचीन भाषा काल-क्रम से अब इतनी कठिन हो गई है कि उसका समझना साधारण बात नहीं।

भारत के तथा अन्य देशों के विद्वानों ने वर्षों परिश्रम करके इस विषय में पूर्ण प्रयत्न किया है और कर भी रहे है किन्तु अब तक भी सचाई के तल तक पहुँच सके है कि नहीं, इसमें सन्देह ही है।

वैदिक (वेद से सम्बन्ध रखने वाले) यज्ञ याग आदि का प्राय लोप हो चुका है। आज इन वेदों का अर्थ समझलेना और तदनुसार कर्म करना एक समस्या होगई है। किन्तु "जिन ढूंढा तिन पाइया" इस सिद्धान्त के अनुसार उच्चकोटि के विद्वान् लोग इस समय अधिक परिश्रम करने में लगे हुए है और उनने कुछ पाया भी है।

यों तो महाभारत के युद्ध के बाद वैदिक साहित्य की एक खण्डहर की सी हालत हो चुकी है। खम्भा कहीं पडा है तो छत का अंश कहीं है अर्थात् क्या चीज कहां थी और अब कहां आपडी इस बात को जानकर फिर से वैसी की वैसी इमारत बनाने के तुल्य ही इस समय वेदों के अर्थ की समस्या होगई है तिस पर—

'बिभेत्यल्प श्रुता द्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।'

अर्थात् वेद भगवान् अल्पज्ञान वाले लोगों से डरते है कि ये कहीं मुझ पर प्रहार न करें।

वर्तमान काल मे (विज्ञान युग में) एक साधारण व्यक्ति भी अपने आप को हरएक विषय का ज्ञाता समझता है और अपनी २ सम्मति देने को तैयार होजाता है परन्तु यह एक हँसी के योग्य

बात है। जब कि ऊँचे २ विद्वान् भी वेदों के अर्थ समझने में अब तक सफल नहीं हो सके तो कोई एक साधारण व्यक्ति का ऐसा प्रयत्न केवल साहस कहलाने के योग्य है। अस्तु प्रकृत में हम कहना यह चाहते है कि इस प्रकार के सत्य वेदार्थ आविष्कार के प्रयत्न में प्रातः स्मरणीय श्री १०५ श्रीपूज्य गुरुवर पडितजी महाराज विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदनजी ओझा ने अपना सारा जीवन लगाया है और उन्हें इस कार्य में अच्छी सफलता मिली है उनने एक प्रकार से वैदिक साहित्य का जीर्णोद्धार कर डाला है। उसका ही फल यह है कि आज वेदों के सम्बन्ध में अपूर्व २ बातें जो भूल में पड़ गई थी जानी जारही हैं। श्री पडित जी महाराज ने वेद को चार भागों में बाटा है,—यज्ञ, विज्ञान, इतिहास और प्रकीर्णक। चारों ही विषयों में उनने वेद के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे है उनमें से इतिहास विषय का यह "जगद्गुरु वैभव" एक सक्षिप्त किन्तु सार निर्देशक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आज से १५००० वर्ष पहले का मानवजाति का इतिहास लिखा गया है।

यों तो लोकमान्य बालगगाधर तिलक महोदयने अपने ग्रन्थ ओरायन (Orin) और Arctic home of the Vedas नाम के ग्रथों में गणित की रीति से वेदों की कालगणना करके यह सिद्ध किया है कि वेदों का सग्रह आज से ८०००० वर्ष पहले का है चाहे इस से भी प्राचीन होसकता है किन्तु ८००० वर्ष से इधर का कथमपि नहीं होसकता। उनका यह भी मत है कि मानवजाति का आदि निवास उत्त ध्रुव पर था क्योंकि वेदों में क्षितिज (Horizon) पर चक्राकार भ्रमण करने वाली ३० उषाओं का वर्णन तथा बहुत लम्बी अँधेरी रात का वर्णन इस बात का प्रमाण है कि ऋषि लोगों का निवास उत्तरध्रुव के आस पास कहीं था। और हिमकाल और हिमोत्तर काल आदि आधुनिक खोज के द्वारा जाने गये सिद्धान्तों के तथा भस्तरशास्त्र (Zoology) के आधारों पर यह निश्चय किया है कि मानवजाति की आदिम निवास भूमि ध्रुव पर थी और इस वृत्तान्त का समय ८००० वर्ष से पहले का ही होसकता है साथ ही लोकमान्य तिलक ने प्रोफेसर के लेख के अनुसार यह एक उपयोगी बात बड़ी खोज से जानी गई लिखी है कि ज्योतिष शास्त्र के आधार पर ध्रुव के पास ६ महिने की रात और ६ महिने का दिन कहा जाता है परन्तु डाक्टर वाइन नाम के पश्चिम देशीय विद्वान् ने अपने **"नन्दनबनोपलब्धि"** नामक ग्रथ में कैप्टिन पिम के इस प्रत्यक्ष देखे हुए वर्णन को जो कि ध्रुव पर देखागया है यों लिखा है कि—पृथ्वी के ध्रुव प्रदेश पर प्रतिवर्ष मार्च की १६ तारीख को सूर्य का उदय होता है इस ४७ दिन पहिले अर्थात् जनवरी मास की २८ तारीख को अरुण का प्रकाश (सूर्य के उदय होने से पहले होने वाला उजाला) दीखने लगता है आगे चलकर सितम्बर मास की २५ तारीख को ध्रुव पर सूर्य का अस्त देखने में आता है और फिर पिछे ४८ दिन तक अर्थात् नवम्बर मास की १३ तारीख तक सायकाल को दीखने वाला प्रकाश रहता है इसके अनन्तर सूर्य का और अरुण का प्रकाश बिलकुल मिट जाता है और इसी कारण से वहाँ अधकार होजाता है और ७६ दिन तक बिलकुल अधेरा रहता है और उसी तरह अरुण का

प्रकाश होकर सूर्य ऊग आता है १६४ दिन तक ऊगा हुआ ही क्षितिज से ऊपर रहता है। १ वर्ष में इस प्रकार ध्रुव पर १६४ दिन सूर्य का प्रकाश २८ दिन सध्या का प्रकाश और ८६ दिन तक बिलकुल अंधेरा और ४७ दिन अरुण का प्रकाश रहता है यो ही ३६५ दिन के वर्ष का हिसाब है।

इस विषय में कुछ विद्वान् पूरे अंधेरे के ७६ दिनों को कम करके केवल ६० दिन ही ध्रुव पर अंधेरा रहना मानते है। इस बात का ठीक निश्चय तो ध्रुव पर जाकर प्रत्यक्ष देखने से ही होसकता है। अनुमान से इस विषय मे इतना ही कहा जासकता है कि सूर्य के उदय तथा अस्त के पहले और पीछे रहने वाला अरुण प्रकाश (उजाला) वायुमण्डल के आधार पर होता है और सूर्य की किरणों का वायुमण्डल से टकराकर दीखना कभी कभी कम ज्यादा होता है यही मतभेद का कारण होसकता है। अस्तु, इसमे जरा भी सन्देह नहीं कि ६ महिने की रात में ध्रुव पर केवल दो ढाई महीने ही घना अन्धकार रहता है बाकी सब समय अरुण प्रकाश और सूर्य का प्रकाश रहता है यों १० मास तक उजाला और २ मास तक घना अंधेरा रहता है।

इस अरुण प्रकाश का वेदों में उषा के नाम से वर्णन किया गया है वेदों में प्राप्त होने वाले उषा के वर्णन तथा घन अंधकार के वर्णन के आधार पर तिलक आदि विद्वानों ने मानवजाति की आदि निवास भूमि ध्रुव क आसपास थी यह निश्चय किया है। इस प्रकार कलकत्ता निवासी स्वर्गीय उमेशचन्द्र विद्यालकार ने अपने ग्रन्थ—**"मानवदिगेरआदि जन्मभूमि"** नाम के अपने बङ्गला ग्रन्थ म मनुष्यों का आदिम निवास मङ्गोलिया में माना है ये सब ऐक प्रकार की 'अटकल' है अभी कोई सिद्धान्त इस विषय में सर्वमान्य नहीं होसका।

हमारे पडितजी महाराज ने इस विषय का निर्णय सक्षेपत. इस ग्रथमें लिखा है और विस्तार से स प्रमाण अपने **'इन्द्रविजय'** और **'देवासुरख्याति'** आदि में किया है और उसका सारांश यह है कि 'त्रिलोकी' का विभाग वेदादि शास्त्रों में कई प्रकार से है उसमें एक 'भौमत्रिलोकी' भी है, अर्थात् इसी पृथ्वीमण्डल पर स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूमि तीनों लोकों की कल्पना है। हिमालय से उत्तर का प्रदेश स्वर्ग, हिमालय के दर्रे अन्तरिक्ष और हिमालय से दक्षिण का भाग इस विभाग में भूलोक माना गया है इसी क्रम से प्राचीन जातियों में मनुष्यों की भी तीन सस्था बनाई थी. उत्तर प्रदेश के रहने वाले देवता अन्तरिक्ष के रहने वाले गन्धर्व आदि और भूमि के निवासी मनुष्य कहलाते थे। सुदूर पश्चिम में असुर लोक की कल्पना थी, और वहाँ के निवासी असुर कहाते थे। पुराणादि वर्णित कई देवासुर सग्राम इनही देवता और असुरों के सग्राम है भारत के निवासी आर्य्यों का मनुष्य होते हुए भी इन भूमिष्ठ देवताओंसे बहुत संपर्क था, न केवल इनका वहाँ जाना आना ही था, प्रत्युत विवाहादि सम्बन्ध भी होता था। उस समय का भारतवर्ष भी आज की तरह सकुचित नहीं था, किन्तु हिमालय और विन्ध्य के मध्य के प्रदेश की रेखा पूर्व और पश्चिम ले जाने से दोनों तरफ जहाँ समुद्र मिलता

है—वह आर्यावर्त भारत कहाता था। इसलिये जहां से आर्यों का आना आज कल क लोक सिद्ध करते है—वे प्रदेश भारत के अवान्तर प्रदेश थे, वा भारत से सम्बन्ध रखने वाले 'दिव्य' 'स्वर्ग' प्रदेश थे वहाँ भारतियों का गतागत था, किन्तु 'भारत' से पार्थक्य इनका कभी नहीं था। इन बातों का सीमा सहित विस्पष्ट और स प्रमाण निर्देश **'इन्द्रविजय'** में है।

नवीन सभ्यता क लोगों का यह विचार कि यहाँ के आदि निवासी दस्यु आदि अनार्य और उत्तर प्रदेश से आकर आर्य लोगों ने इन आर्यों को यहा से निकाला था और स्वय यहा निवास करने लगे, इन्द्रविजय काव्य को देखने से प्रतीत होजाता है कि ये बाते यों नहीं किन्तु यों है कि भारतवर्ष के आदि निवासी आर्यलोग यहाँ उत्तर की तरफ हिमालय से बहुत आगे तक फैले हुए थे किन्तु काल क्रम से सकुचित होते होते आज हिमालय से दक्षिण भाग मे निवास कर रहे है। पहिले स ही यहाँ के निवासी हैं न कि उत्तर स आकर यहाँ बसे है अन्तर इतना ही है कि जहाँ से आर्यों का आना लोग मान बैठे है हम आर्य पहिले वहा तक निवास वा गतागत करते थे और धीरे धीरे फैलाव क्रम होकर आज भारत की सीमा हिमालय तक मानली गई है। यहाँ पर इस विषय का सक्षेप इस कारण लिखा है कि श्री पडितजी महाराज के सिद्धान्तानुसार देवलोक की सीमा प्राङ्मेरु (पामीर) तक थी। और इस श्री जगद्गुरु वैभव के मूल नायक जो कि उस समय ब्रह्मा कहलाते थे उनका निवासस्थान प्राङ्मेरु के समीप था वह स्थान पुष्कर कहलाता था जिस को आज (बलख बुखारा) कहते है। पुष्कर शब्द कही अपभ्रश पुक्खर होकर बुक्खर और आगे बिगड़कर बुखारा होगया है।

श्री जगद्गुरु वैभव इन्हीं ब्रह्माजी की जीवनी का ग्रन्थ है। इन ब्रह्माजी के समय मे जिसको आज करीब १५००० वर्ष हुए है, वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले ऋग्वेद सहिता आदि वेद ग्रन्थों का सकलन हुआ है जो आज भी वैसे का वैसा प्राप्त होरहा है।

इस बात को कितना समय हुआ यह बात यदि ऋग्वेद सहिता के मन्त्रों से ही सिद्ध की जा सकै तो कितना अच्छा हो ऋग्वेद सहिता क मन्त्र के आधार पर इसी ग्रन्थ मे पृष्ठ न० २१ म "प्राग्ज्योतिष पुरे ब्राह्मणोऽवस्थानम्" हैडिग के श्लोक न० १ मे पण्डितजी महाराज लिखते है—

ध्रुवादधस्तात् पृथिवी प्रदेशः सुमेरुरित्थ प्रतिपत्ति लोका.।
ब्रह्माभिजिद्धादधरः प्रदेशः सुमेरुरासीत्तु पुरायुगे स.॥

तात्पर्य यह है कि 'ध्रुव' प्रदेश भी घूमता रहता है। अन्य स्थानों की अपेक्षा वह ध्रुव है, किन्तु वास्तविक ध्रुव तो ससार का कोई प्रदेश है ही नहीं। अस्तु जिस समय जो 'ध्रुव' प्रदेश हो उस ध्रुव के ठीक नीचे का प्रदेश सुमेरु कहाजाता है। इसके अनुसार जिस समय आकाश का अभिजित तारा 'ध्रुव' प्रदेश मानाजाता था उस समय उसके नीचे का प्रदेश मेरु था, वहाँ ब्रह्माजी

रहते थे। उसका नाम आज पामीर (प्राङ्मेरु) (पुराने समय का मेरु) है। और उस समय इन्द्र नाम से जो प्रसिद्ध थे वे वैकुण्ठ इन्द्र थे। उनकी तरफ से जो भारत का शासक (एजेन्ट) था उसका नाम अग्नि था वह इन्द्रका प्रतिनिधि था। यहा पर स्मरण रहे कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधि-दैविक आदि भेद से ये इन्द्र, अग्नि, ब्रह्मा आदि शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक है। जगत् के मूल-तत्त्व देवप्राण भी इन शब्दों से कहे जाते है। द्यु मण्डल के निवासी प्राणिगण भी इन नामो से व्यव-हृत है, तारामण्डल मे भी इन नामों के तारे है। शरीर क इन्द्रिय आदि प्राण भी इन शब्दों क बोध्य है और भूमि के देव सस्था के मनुष्य भी इन ही नामों से व्यवहृत हुए है इन सब प्रकार के इन्द्र, अग्नि आदि का परस्पर क्या सम्बन्ध है यह श्री पडितजी महाराज के ब्रह्मविज्ञान आदि ग्रन्थों में स्पष्ट निरूपित हुआ है यही वेद का मुख्य रहस्य है अस्तु—आकाश के ब्रह्मा के (अभिजित्) तारे की तरह सारे भूमण्डल पर जिनकी आज्ञा चलती थी उनका नाम यहां भी ब्रह्मा रक्खा गया था। ब्रह्माजी विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल से उत्पन्न हुए है यह दृश्य आज भी आकाश में प्रत्यक्ष देखने में आता है जिस समय ब्राह्म (अभिजित) ध्रुव था, किस २ समय कौन तारा ध्रुव माना जाता था और अब जो ध्रुव (उत्तानपाद का तारा) माना जाता है ये कब से और फिर आकाश काल चक्र की गति के अनुसार इस समय जो ध्रुव १॥ अश पश्चिम की तरफ हटा मालुम देता है फिर कितने दिन मे ठीक ध्रुव के स्थान पर आजायगा। और जिस धरातल मे पृथ्वी है उसक केन्द्रको ज्यौतिष-शास्त्र मे कदम्ब कहते है। उसका नाम वेदों में नाक शब्द मिलता है वह ध्रुव से २४ अश की दूरी पर है। कदम्ब विष्णु है, ध्रुव प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा है। इस बीच के अन्तर को नाभि कमल की डण्डी कहा गया है। इस डण्डी का समाप्ति पर ध्रुव जो हिसाब से आज से १३००० वर्ष पूर्व अगल नकशे मे दिखाई स्थिति क अनुसार था उसका नाम ब्रह्मा था उसको आज A lyra या Vega का तारा कहते है वही ब्रह्मा था और हस का तारा जो आज कहलाता है यही ब्रह्माजी का वाहन हस पुराणों मे प्रसिद्ध है जिस समय हस वाले ब्रह्माजी आज जहा ध्रुव है वहा पर विराजमान थे उस समय को आज ज्योतिष क गणित से १३००० वर्ष व्यतीत हो चुके है। ठीक उसी समय मनुष्य देहधारी एक ब्रह्मा नाम क पुरुष प्राग्मेरु (पामीर) क समीप कान्तिपुरी नाम की नगरी मे विराजमान थे और सारे भूमण्डल का प्रबन्ध उनने एसा कर रक्खा था कि आज तक उसका अस्तित्व है इन ब्रह्माजी क समय मानवजाति याम नाम से प्रसिद्ध थी। और इन ब्रह्माजी क समय मे यह जाति मणिजा नाम से प्रसिद्ध हुई। मणिजा जाति भी आज कलके वर्णाश्रम की तरह चार वर्णों मे विभक्त हुई। जिनमें प्रथम साध्य (ब्राह्मण) द्वितीय महाराजिक (क्षत्रिय) तृतीय आभास्वर (वणिक्) चतुर्थ तुषित (शूद्र) नाम से प्रसिद्ध थे इनमें साध्यों के १२ भेद थे, महाराजिको के १२० और आभास्वरों के ६४ और तुषितों के ३६ भेद थे। इस साध्य युग मे वेदों का सकलन हुआ। ब्रह्माजी ने ४ लक्ष ग्रन्थ ४ विषयों में सकलन किये। इन ब्रह्माजी ने विद्या (ज्ञान) विषय मे देवताओं को

और शिल्प (हस्तकौशल) में असुरों को नियुक्त किया। इस देवयुग में विज्ञान विषय की साध्यों की जो गाथायें श्लोक रूप में थी उनका प्राय, लोप होगया।

देवों का राजा इन्द्र कहलाता था ये इन्द्र सख्या में १४ है। सब से प्रथम जो इन्द्रासन परे इन्द्र थे उनका नाम धर्म था, दूसरे दुघन, तीसरे सर्वहरि चौथे मुष्कवान्, पाचवे वरु छठे स्वरू और सातवें वैकुण्ठ नाम क इन्द्र थे इन ब्रह्माजी क समय वाले इन्द्र बैकुण्ठ नाम क थे। वैकुण्ठ इन्द्रक समय जो कुछ वृत्त था उस सब का सङ्कलन होकर ऋग्वेद आदि ग्रन्थों का सग्रह इस ही समय हुआ। इस समय को १३००० वर्ष व्यतीत होचुक है। ये समय वो था जब कि ब्रह्मा का तारा ध्रुव था। यहा यह लिखना अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि आकाश के ध्रुव का स्थान जो नियत है वह तो ध्रुव अर्थात् अचल है। किन्तु उस स्थान पर जो तारा रहता है वह चल है अर्थात्—ध्रुव की गद्दी पर कभी कोई तारा (नक्षत्र) रहता है कभी कोई। इसका कारण यह है कि पृथ्वी की भूमध्य रेखा (विषुवत् रेखा) Equator जिस सीध मे आकाश में रहती है उसकी सीध में जिस समय सूर्य दीखे उस दिन भारत मे रात दिन काटे तुले बराबर १२ घण्टे क होते है। सूर्य ज्यों २ उत्तर की तरफ बढता है त्यों त्यों दिन मान बढता जाता है। फिर सूर्य क उत्तर की हद पर पहुचने पर चौमासा शुरू होजाता है। फिर आश्विन क महीने में सूर्य फिर भूमध्यरेखा की सीध मे आकर फिर एक बार १२ घटे का दिन और १२ घटे की रात यों बराबर करक फिर दक्षिण की तरफ जाने लगता है। जाते २ दक्षिण में जान की हद पर पहुच जाता है वहा सब दिनों से बडी रात और छोटे से छोटा दिन होता है। उत्तर की अवधिपर जान स सबस बड़ा दिन और सबसे बड़ी रात हुआ करती है।

इस दक्षिण की हद की जगह किसी समय मकरसक्रान्ति थी किन्तु भूमध्य रेखा का भूप्रदेश क्रम से ऊचा होता जारहा है इस कारण आकाश में भूमध्य रेखा क सीध की जगह प्रति दिन बदल रही है बदलते बदलते आज उसमें २३ दिन का अन्तर पड़ गया है उदाहरण की रीति पर यों मान लीजिये कि आज सूर्य की मकर सक्रान्ति १४ जनवरी को होती है। और प्रत्यक्ष उत्तरायण २२ दिसम्बर का ही देखन में आजाता है। २२ दिसम्बर से १४ जनवरी तक २३ दिन होते है। जब कभी उत्तरायण मकर सक्रान्ति पर होता था, उस समय मकर सक्रान्ति और उत्तरायण एक थे। वो समय महाभारत क युद्ध का समय था ये स्थान प्रति वर्ष पीछे हटता जारहा है ये ही आकाश क तारों की भिन्न २ समय का भिन्न २ स्थिति किस समय क्या थी इसक आधारपर प्राचीन ग्रन्थों के सङ्कलन का समय बतलाती है। जिस समय ब्रह्माजी का तारा अभिजित् (A lyra-Vega) ध्रुव की गद्दी पर था उस समय में ब्रह्माजी की इच्छानुसार वेदों का सङ्कलन हुआ ये ही इन जगद्गुरु ब्रह्माजी क वैभव का वर्णन इस ग्रथ मे है। गणित क द्वारा वह समय आज से १३००० वर्ष पूर्व यों सिद्ध होता है कि अभिजित् का नक्षत्र जब ध्रुव था उस समय भूमध्य रेखा पर हस्त नक्षत्र था। हस्त नक्षत्र

अश्विनी स १३ वीं है भूमध्यरेखा की सीध आकाश क किसी एक नक्षत्र की सीध पर १००० वर्ष रहती है ये ज्योतिसशास्त्र का सिद्धान्त है क्योंकि एक नक्षत्र का (जो कि कुल २७ है) १३ अंश २० कला का परिमाण है। यों सारे आकाश क पूर्व पश्चिम ३६० अंशों को २७ विभागों में विभाजित करने पर एक नक्षत्र १३ अंश २० कला का होता है। मकर सक्रान्ति का बिन्दु प्रति वर्ष ५० सैकिण्ड पीछे हटता हटता १ अंश को ७२ वर्ष मे पूरा करता है। इस प्रकार १ नक्षत्र १३ अंश २० कला को १००० वर्ष मे पूरा कर चुकता है। अश्विनी से हस्त तक १३ नक्षत्र होते है एक नक्षत्र के १००० वर्ष गणित सिद्ध होने से १३ नक्षत्रों का १३००० तेरा हजार वर्ष समय होता है।

वर्तमान काल में ये भूमध्य रेखा की सीध उत्तराभाद्रपद नक्षत्र पर देखी जारही है। यों उलटी चाल से और भी नक्षत्र ये अयन विन्दु पीछे हट चुका है। अर्थात् उन १३००० वर्षों में रेवती के १००० और उत्तराभाद्रपद के १००० यों २००० वर्ष और जोड़ देने पर अभिजित् क ध्रुव की जगह होने का समय १५००० वर्ष ठीक २ मानलिया जाता है। उस समय वाले ब्रह्माजी ने जो कुछ किया उस सबका वर्णन भी ऋक् सहिता मे उपलब्ध है। ये ही कारण है कि इन वैदिक ग्रन्थों क सकलन का समय १५००० वर्ष बड़ी सरलता स समझ मे आजाता है। तिलक महोदय ने अयन विन्दु की स्थिति वेद सग्रह क समय मृगशिर नक्षत्र पर मानी है किन्तु वास्तव मे उस समय जिस समय की Vega का तारा ध्रुव पर था उस समय सपात विन्दु हस्त नक्षत्र पर था न कि मृगशीर्ष नक्षत्र पर यों ८००० वर्ष का काल तिलक महोदय ने वेद सग्रह का माना था वह श्रीमान् स्वर्गस्थ पण्डितजी महाराज ने आज स १५००० वर्ष पूर्व था ये इस ग्रन्थमें सप्रमाण सिद्ध कर दिखलादिया है इस सम्बन्ध के प्रमाण इस ही ग्रन्थ में तथा इन्द्र विजय मे प्राप्त है। तिलक क वेद काल निर्णय का हिन्दी अनुवाद करते समय मुझे श्रीमान् पडितजी महाराजने स्वय फर्माया था कि उस समयOrion मृगशीर्ष पर न होकर हस्त (Bntg) पर था और इस आधार पर वेद सग्रह आज से १५००० वर्षों से पहले का है इस विषय का यहा विशेष निर्वचन करना व्यर्थ प्रतीत होता है इस कारण सरलता से कुछ विषय प्रवेश होजाय उतना ही लिखा है इस सम्बन्ध में स्वतन्त्रग्रथ लिखना उचित होगा इसका कारण इस समय कालमर्यादा के जानने में आकाश के तारों की स्थिति का यहाँ प्रकार वा काल निर्णय की युक्ति लिखी है। शतपथब्राह्मण के समय ये सपात विन्दु कृत्तिका-नक्षत्र पर था, क्योंकि"**कृत्तिका. प्राचीता न च्यवन्ति**"ऐसा लिखा है। अर्थात उस समय भूमध्य रेखा की सीध कृत्तिका नक्षत्र पर थी जब ही कृत्तिका ठीक पूर्व में दीखती थी यह काल ३००० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। इस ही तरह महाभारत के युद्ध के समय यह सपात विन्दु रोहिणी पर था उसका काल ५००० वर्ष सिद्ध होता है। इस ही आधार पर से हस्त नक्षत्र की स्थिति में ब्रह्माजी का होना तथा वैदिक साहित्य का सकलन होना आज से १५००० वर्ष पूर्व इस गणित से सिद्ध होजाता है यहां पर वेदों के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि वेद तो अपौरुषेय है उनका क्या समय वो तो अनादिकाल

से चले आरहे है इसका समाधान ये है कि अध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक इस प्रकार से ईश्वरे की सृष्टि ३ प्रकार की है। ये वेद सकलन आधि-भौतिक ब्रह्माजी के समय का है। आधिदैविक आध्यात्मिक वेद अपौरुषेय है वो अनादि है उन विषयों का पर्यालोचन ऋषिमहर्षियोंने अपने समय किया इस कारण इन ग्रन्थों के सङ्कलन कर्ता ऋषि महर्षि अवश्य ही थे किन्तु जिन अपौरुषेय विषयों का वर्णन इनमें प्राप्त होता है इस कारण वह भी अपौरुषेय कहे जाते है।

पौरुषेय अपौरुषेय का निर्णय इस ग्रन्थ में अच्छे प्रकार से किया गया है वह ग्रथ क निरीक्षण से ज्ञात होजायगा। इस विषय का विशेष वर्णन यहाँ अनावश्यक प्रतीत होता है केवल दिग्दर्शन मात्र आवश्यक हुआ अस्तु—

श्री जगद्गुरुवैभवक पढने में इन्द्रविजय का बडा उपयोग है। इस कारण मर्मज्ञ लोग उस ग्रन्थ का अवलोकन करके इस ग्रथ को देखेंगे तो बडा लाभ होगा। यद्यपि उसका भाषा मे अभी अनुवाद नहीं हो पाया है किन्तु प्रमाण वगैरह सब उसमे लिख दिये गये है। उनको उसी ग्रन्थ में देखना चाहिये। यहां पर इस भूमिका को विशेष बढाने की आवश्यकता नहीं केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि महाभारत क युद्ध क बाद यह ग्रन्थ ही उस प्राचीन देव युग क वृत्त को बतला रहा है। इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढकर विज्ञ पाठक स्वय अनुभव करेंगे।

जयपुर सिटी
ता०१-६-४३ } **ज्योतिर्विद् पं० केदारनाथ शर्मा साहित्यभूषण**
जयपुर राजकीय ज्यौतिष यन्त्रालयाध्यक्ष



॥ श्रीः ॥

दिव्यविभूतिग्रन्थे–जगद्गुरुवैभवस्य विषयतालिका प्रदर्श्यते ।



१–आत्मसृष्टिः, २–वेदसृष्टिः, ३–लोकसृष्टिः, ४–प्रजासृष्टिः ५–धर्मसृष्टिः ।



विषयाः पृष्ठः

विषयाः	पृष्ठं

* इति शुभम् *

॥ श्रीहरिः ॥

जगद्गुरुवैभवम्

१-इतिवृत्तप्रसङ्गः ।

ऐतिह्यसमालोचना ।

ये कोविदाः केचिदिहेतिहासप्रमार्गणे सम्प्रति सप्रयत्नाः ।
प्रवृत्तिरासन्नतरेतिहासेष्वेवानुसन्धानकृतेऽस्ति तेषाम् ॥ १ ॥
अन्येषु देशेषु न चोन्नत्तिः प्राक् चतु सहस्रावधिवर्षपूगात् ।
आसीत् ततस्तेषु न चेतिहास ग्रन्थाः पुराणाः क्वचनोपलभ्याः ॥ २ ॥
अतस्त आसन्नतरस्य कालस्यैवेतिहासे कुशला भवन्ति ।
चतुःसहस्रावधिवर्षपूगात् प्रत्नेतिहासं तु न ते विदन्ति ॥ ३ ॥
मुद्रा—शिला-लेखन-दान-पत्र—प्रशंसनग्रन्थकथादिरूपम् ।
प्रमाणसामाग्र्यमिहोपलब्धं यत्किञ्चिदेतैरनुसन्दधद्भिः ॥ ४ ॥
तत्सर्वमर्वाक्तनमेव तेषां चतुःसहस्रावधिवर्षपूगात् ।
पुरातनं त्वस्ति न चोपलभ्यं कालेन तस्यातिशयेन नाशात् ॥ ५ ॥
तत्र स्वबुद्ध्या परितर्कयद्भिस्तर्कानुसन्धानविधासु दोषात् ।
भूयाननर्थः प्रतिपाद्यते तैः क्वचिन्न मान्यं मतमस्ति तेषाम् ॥ ६ ॥
अद्यप्रभृत्याचरितं पुरस्ताच्चतुःसहस्रावधिवर्षपूगे ।
यथा बभूवेह तदेव तेषामस्तीतिहासः सुविमर्शयोग्यः ॥ ७ ॥
ततस्तु पूर्वं यदभूच्चरित्रं न तत्र तेषामनुयाति दृष्टिः ।
ते षट्सहस्राब्दगणात् पुरस्ताद् विश्वस्थितिं हन्त न भावयन्ति ॥ ८ ॥
एतद्ध्यवैज्ञानिकमस्त्यमीषां मतं तु तद् बालकभाषितं नु ।
यदाहुरेतेऽब्दसहस्रषट्कादेवोदयं विश्वमिदं प्रयातम् ॥ ९ ॥

यच्चाहुरन्ये खलु भारतेऽस्मिन् पूर्वं वसन्तिस्म चिरादनार्याः ।
अथोत्तरादेत्य तु केचिदार्या निहत्य तानत्र परं न्यवात्सुः ॥ १० ॥
इत्युक्तमेतन्मतमस्त्यसारं प्रमाणमर्थेऽत्र न किंचिदस्ति ।
इहोत्तराद्स्यव आगतास्ते जिता अनार्या युधि भारतीयैः ॥ ११ ॥
यदा तु युद्धं तदभूत् तदानीमासीदिदं भारतबर्षमग्र्यम् ।
विद्यासु वीर्येषु धनेषु नार्यैः समा क्वचासन्निह भारतीयैः ॥ १२ ॥
तत्रेन्द्रयुद्धे विजयो यथाऽभूदार्यस्य तद्वर्णितमत्र वेदे ।
इहापि तद्दिव्यविभूतिचर्चाप्रसङ्गत स्यादनुवर्णनीयम् ॥ १३ ॥

भारतवर्षीयसभ्यताया अतिपुरातनत्वात् तद्देशप्रसिद्धेतिवृत्तानामतिप्राचीनत्वम् ।

इयं तु सृष्टिर्बहुपूर्वकालात् प्रवर्त्तमानास्ति पुरापि लोकाः ।
सभ्या भवन्तिस्म ततस्त्वमीषामपीतिहासाः सुविमर्शयोग्याः ॥ १ ॥
चतुःसहस्रावधिवर्षपूगात् पुरायुगेऽत्युन्नतवृत्तमासीत् ।
दैवादिदं भारतवर्षमागादर्वाग्युगे चावनतिं क्रमेण ॥ २ ॥
वाणिज्यमासीद् बलवीर्यमासीद् विद्या-कला-शिल्पविधानमासीत् ।
अत्युन्नता सत्यविचारपूर्णा तत्रेतिहासावलिरुन्नताऽऽसीत् ॥ ३ ॥
विज्ञायते भारतवर्षसभ्यता पुरातनी सर्वजगद्गुरुत्वतः ।
अत्रैव देशे प्रथमप्रवर्त्तितं निर्वक्ति शास्त्रं मनुजस्य सभ्यताम् ॥ ४ ॥
यथोदितं तत्र च वेदशास्त्रे मनुष्यलोकस्य चरित्रमग्र्यम् ।
ततो विरुद्धं तु वदन्ति येऽन्ये तदस्ति हेयं नहि तत्र सत्यम् ॥ ५ ॥
अथापि विभ्रान्तधियोऽद्य धीरास्ते भारतीयादितिहासशास्त्रात् ।
पुरायुगीयार्यजगच्चरित्रं न हन्त गृह्णत्यनृतं वदन्तः ॥ ६ ॥
आश्चर्यमाश्चर्यमिदं यदेते विचारशीला अपि विद्वदग्र्याः ।
क्षुद्रानृतप्रायचरित्रलेखेष्वास्थां दधाना निपतन्ति सत्यात् ॥ ७ ॥
हन्ताद्य पश्यामि पुराविदानां चतु.सहस्रावधिवर्षपूगात् ।
अर्वाञ्च एव त्वखिलेतिहासग्रन्था अमीषां प्रतना न सन्ति ॥ ८ ॥
किन्त्वीक्ष्यते भातवर्षभूमौ चतु.सहस्रावधिवर्षपूगात् ।
पुरातनं वास्तवलोकवृत्तं श्रद्धार्हमार्यैश्चिररक्षितं तत् ॥ ९ ॥
तत्रापि दृष्टिः प्रणिधीयतां ज्योक् समीक्ष्यतां तत्समयव्यवस्था ।
वैज्ञानिकं धार्मिकनैतिकाग्र्यं सामाजिकं प्राक्तनलोकवृत्तम् ॥ १० ॥

ब्रह्मा तु विज्ञानगुरुः पुरासीन्मनुर्महीशासनसूत्रधारः ।
राजा पृथुर्नीतिविधानदीक्षापालस्त एते महिमानमापुः ॥ ११ ॥
अद्यापि विज्ञानमिह प्रवर्तते प्रवर्तितं ब्रह्मधियैव वेदतः ।
धर्म्मस्वरूपं मनुना प्रवर्तितं प्रवर्त्तते सांप्रतमप्यशेषतः ॥ १२ ॥
अद्यापि भूशासननीतिपद्धतिस्तथा यथाऽऽसीत् पृथुना पुरा कृता ।
त्रयोऽप्यमी भारतवर्षसभ्यताप्रचारमूलप्रभवा इहाभवन् ॥ १३ ॥
सिन्धोर्नदात् पश्चिमदिश्यसौ पुरा ब्रह्माऽग्रहीज्जन्म तु पुष्करे पुरे ।
हिरण्यशृंगे स उवास पर्वते यमद्य पामीर इति ब्रुवन्ति हि ॥ १४ ॥
मनुःस्वयम्भूरथ ब्रह्मविष्टपे न्युवास काकेशस नाम पर्वते ।
कृत्वा व्यवस्थां च पृथुः समाजगां प्रचारयामास तथाद्य वर्तते ॥ १५ ॥
नासीत् तदानीं स तुरुष्कदेशस्तत्रर्षयः स्मार्य्यगणा वसन्ति ।
त्रिविष्टपस्वर्गगतः स आसीत् प्रान्तस्तदा ब्राह्मविभागभुक्तः ॥ १६ ॥
अथान्य आसीत्तु मनुर्द्वितीयकोऽयोध्यापुरीमध्यवसत् स भारते ।
कृत्वा व्यवस्थां च पृथुः समाजगां प्रचारयामास तथाद्य वर्त्तते ॥ १७ ॥
चतुःसहस्रावधिवर्षपूगात् पुरातनं चारु जगच्चरित्रम् ।
शुश्रूषवस्त्वाकलयन्तु यत्नाद् वेदान् पुराणोपचितेतिहासान् ॥ १८ ॥
यद्वै महाभारततः पुरातनं चरित्रमासीदपि दैवते युगे ।
तत्पश्चसु ख्यातिषु वंशयोगतो निरूपितं तत्र हि तद् विमृश्यताम् ॥ १९ ॥

इतिवृत्तानां पुराणेतिहासाभ्यां द्वैविध्यम् ।

विज्ञानशास्त्रे प्रतिपादनीये लोकेतिवृत्तस्य भवत्यपेक्षा ।
तच्चेतिवृत्तं द्विविधं पुराणेतिहासभेदात् प्रवदन्ति वृद्धाः ॥ १ ॥
यद् विश्वसृष्टेरितिवृत्तमासीत् पुरातनं तद्धि पुराणमाहुः ।
यच्चेतनानां तु नृणां चरित्रं पृथक् कृतं स्यात् स इहेतिहासः ॥ २ ॥
विज्ञानशास्त्रे तु निरूपणीये तयोर्द्वयोरेव भवत्यपेक्षा ।
तस्मात् पुराणं प्रथमं प्रदर्श्येतिहासमप्यत्र निदर्शयिष्ये ॥ ३ ॥
आसीत् पुरा देवयुगेऽमराणां विज्ञानदृष्टिर्जगतोऽस्यसृष्टौ ।
यथा तथा दर्शयितुं प्रवृत्तो वक्ष्यामि दैवीं स्थितिमत्र किञ्चित् ॥ ४ ॥

इतिवृत्तप्रसङ्गः ॥ १ ॥

२—पुराणप्रसङ्गः ।

* सृष्टि विद्यायाः पंचधा विभक्तायाः पुराणसंज्ञा ।

अनाद्यनन्तं यदिदं प्रदृश्यते विश्वं विचित्रं बहुरूपमद्भुतम् ।
कदा कथं वा तदभूत् कुतः कुतस्तदित्थमग्रे बहुभिर्विचारितम् ॥१॥
तद् विश्वसृष्टेर्बहुधा निरूपणं पुरातनं यत्कृतमादिसूरिभिः ।
सा सृष्टिविद्येह पुराणसंज्ञया ख्याता विभक्ता बहुधा च पञ्चधा ॥ २ ॥

१ २ ३
त्रैलोक्यविश्वविद्या ज्योतिश्चक्रं च भुवनकोशश्च ।
५
प्रासङ्गिकं च वंशावली, पुराणं तु पञ्चविधम् ॥ ३ ॥
या विश्वसृष्टिविद्या साऽष्टादशधा परिच्छिन्ना ।
सृष्टिपरिच्छेदानां पुराणसंज्ञा पुराणत्वात् ॥ ४ ॥
ग्रहनक्षत्रज्ञानं ताराविज्ञान-गोलविज्ञाने ।
स्मारकचरित्रक्लृप्तिर्ज्योतिश्चक्रं खगोलविद्याऽस्ति ॥ ५ ॥
वर्षविभागो गिरि-वन-समुद्र-नद्यः सरांसि चाख्याताः ।
नगरस्थानावासा भूमितिरित्थं च भुवनकोशोऽस्ति ॥ ६ ॥
१ २ ३ ४
आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च ।
प्रासाङ्गिकं चतुर्धा प्रश्नसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम् ॥ ७ ॥
श्रौतः स्मार्तः समयश्चाचारो धर्म्मभेदास्ते ।
नानोपासनभेदा दर्शनभेदाश्च कल्पशुद्धिरिह ॥ ८ ॥
स्वायंभुवादिषण्मनुवंशा वैवस्वतो वंशः ।
सूर्य्याग्निचन्द्रवंशा उक्ता वंशावलिग्रन्थे ॥ ९ ॥
१ २ ३ ४ ५ ६
ब्रह्मा पद्मं विष्णुर्वायुश्चापश्च नारदश्चेति ।
षट्कं सृष्टेरुक्थं ब्रह्मादीनां परं परं तूक्थम् ॥ १० ॥
७ ८ ९ १०
त्रैगुण्यमग्निसूर्यौ ब्रह्मविवर्त्तोऽन्य उक्थमतभेदाः ।
प्रकृतेरग्नेः सूर्यात् सृष्टिरियं ब्रह्मणो विवर्तो वा ॥ ११ ॥

११ १२ १३ १४ १५ १६
लिङ्गं वराह—वामन—कुमार—कूर्म्माश्च मत्स्यश्च ।
एते षट् त्ववताराः सन्ति विराजोऽनु सृष्टिविधाः ॥ १२ ॥
संचरतः प्रतिसंचरकर्म्मार्थोत्क्रान्त्यनुत्क्रान्ती ।
१७
अपि संपराय विद्या गरुडपुराणे पुनर्जन्म ॥ १३ ॥
विश्वस्य रूपमस्ति ब्रह्माण्डं, तस्य यादृशी संस्था ।
१८
तत्र यथा ये लोकास्तदिदं सर्वं पुराणेऽन्त्ये ॥ १४ ॥
एवं पुराणमेकं कृष्णद्वैपायनेन संग्रथितम् ।
वेदग्रन्थादुद्धृतमष्टादशखण्डतः परिच्छिन्नम् ॥ १५ ॥

प्रचलितपुराणग्रंथानामेकैकस्मिन् सर्वपुराणार्थानां सांकर्य्यम् ।

पौराणसंहिता सा सूतेनासीत् प्रचारिता लोके ।
तिस्रोऽन्यसंहिता अपि शिष्यैः सूतस्य निर्मिता अभवन् ॥ १ ॥
पौराणिकस्तु सूतः स रोमहर्षण इति श्रुतस्तेन ।
सप्त पुराणग्रन्थाः षट्संवादिप्रकारतो रचिताः ॥ २ ॥
उग्रश्रवास्तु सौति पुनर्द्वितीयं व्यधाच्चतुर्थं च ।
अपि पञ्चमं स चक्रे शेषपुराणानि चाष्टमादीनि ॥ ३ ॥
तस्मात् पद्मपुराणं द्विविधं द्विविधं चतुर्थं च ।
द्विविधं च पञ्चमं तच्छेषाणां ग्रन्थ एकैकः ॥ ४ ॥
प्रश्नानुसारतस्तु ग्रन्थेष्वेषु प्रवर्त्तमानेषु ।
अन्यपुराणार्था अपि सर्वे सर्वत्र सन्ति संकीर्णाः ॥ ५ ॥
एतत् पुराणशास्त्रं ह्युपजीव्यं सर्वशास्त्राणाम् ।
वेदानामपि वेदं पुराणमितिहासमप्याहुः ॥ ६ ॥
वेदः शास्त्रं तदिदं कदाऽभवत् कोऽत्र वा विषयः ।
केन च निर्म्मितमेतज्ज्ञानं शास्त्रस्य शास्त्रं स्यात् ॥ ७ ॥
प्रत्यर्थं या भातिर्य्या चास्तिः सोपलब्धिरपि वेदः ।
स कदा कथमभवद्वा तज्ज्ञानं वेदवेदः स्यात् ॥ ८ ॥
सन्ति पुराणसमीक्षाग्रन्थे विशदं प्रदर्शिता एते ।
सर्वे विषयास्तस्मिन् दृश्यन्तामिह तु संक्षेपः ॥ ९ ॥

विश्वसंस्थाचतुष्टयम् ।

इह तावदाधिभौतिकमस्ति खलु ब्रह्मचरितमालोच्यम् ।
तदुपोद्बलकतयैवाधिदैविकं ब्रह्मचरितमाकलये ॥ १ ॥

१ २ ३
यद् दृश्यते विश्वमिदं तदेतत् पिण्डाण्डभूमक्रमतस्त्रिधाऽस्ति ।
पृथ्वी प्रतिष्ठात्र पशुद्रुजन्तुग्रामस्तदित्थं द्विविधोऽस्ति पिण्डः ॥ २ ॥
ततश्चतुःसंस्थमिदं हि विश्वं भूमाण्डभूपिण्डशरीरपिण्डैः ।
आत्मा चतुर्धाऽस्ति ततोऽनुपाख्यो हिरण्यगर्भोऽथ च धिष्ण्यहृद्यौ ॥ ३ ॥
यो दैहिकस्तैजस एष हृद्यो धिष्ण्यः स पृथ्व्यादिषु योऽन्तरस्थः ।
हिरण्यगर्भोऽण्डगतोऽस्ति सूर्य्योऽव्ययोऽनुपाख्यो विरजो द्युपृष्ठे ॥ ४ ॥
पिण्डे शरीरे हृदयस्थ आत्मा धातून् सृजत्यस्थिपलासृगादीन् ।
एवं पृथिव्या अपि नभ्य आत्मा धातून् सृजत्यभ्रकगन्धकादीन् ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डनभ्यो रविरेष आत्मा ज्योतिश्च गामायुरुताण्डधातून् ।
यथा सृजत्येवमसावनन्तः सूर्य्यन्दुमेन्दुप्रभृतीन् ससर्ज ॥ ६ ॥
सृष्टिश्च तत्र प्रतिसृष्टिरेवं पुनः पुनः संभवति स्वभावात् ।
प्रत्यर्थभेदाद् प्रतिसूर्य्यभेदाद् व्यष्ट्या समष्ट्या प्रलयोदयौस्तः ॥ ७ ॥

इति पुराणप्रसङ्गः ॥ २ ॥



३–पौराणिकसृष्टिप्रसङ्गः ।

(वैज्ञानिकैतिहासिकभेदात् पौराणिकसृष्टिद्वैविध्यम्)

तत्र प्रथमम्

पौराणिकसृष्टिक्रमाधारभूतं वैज्ञानिकसृष्टिप्रकरणम्

वैज्ञानिकब्रह्मकृत वैज्ञानिकसृष्टित्रैविध्यम् ।

संपद्यते ब्रह्मत एव सृष्टिर्याऽभूद् भवत्यद्य भविष्यतीति ।
ब्रह्मास्त्यसौ प्राणविधोऽधिदैवं भूमौ मनुष्यस्तु गुरुः स आसीत् ॥ १ ॥

१ २ ३
ब्रह्माऽधिदैवं सृजति त्रिधा पृथक् स मानसीं स्थानवतीं च मैथुनीम् ।
ये ह्येकबिन्दौ बहवः सहस्थितास्ते मानसा भूत गुणादयो यथा ॥ २ ॥

एकाश्रिते खे न यदा परस्थितिस्तस्यापसारेऽत्र परस्थितिर्भवेत् ।
स्थानाभिमानी स पदार्थ उच्यते यथा पृथिव्यम्बुसमीरणादयः ॥ ३ ॥

द्वयोस्तु योगादुपमृद्य तद्द्वय यदा तृतीयं किमपि प्रजायते ।
सा मैथुनीसृष्टिरिमे यथा नरा ये योनिजाः केचिदयोनिजा अपि ॥ ४ ॥

तथा चोक्तं पुराणे—

"अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान् ।
सनन्दनं च सनकं विद्वांसं च सनातनम् ॥
विज्ञानेन निवृत्तास्ते वैवर्त्तेन महौजसः ।
संबुद्धाश्चैव नानात्वादपविद्धास्त्रयोऽपिते ॥
असृष्ट्वैव प्रजासर्गं प्रतिसर्गं गताः पुनः ।
तदा तेषु व्यतीतेषु तदान्यान् साधकांश्च तान् ॥
मानवानसृजद् ब्रह्मा पुनः स्थानाभिमानिनः ।
आभूतसंप्लवावस्थाम्नामतस्तान्निबोधत ॥
आपोऽग्निः पृथिवीवायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ।
स्थानाभिमानिनः सर्वे स्थान्याख्याश्चैव ते स्मृताः" ॥

(वायु० पु० १ पादे ६ अध्याय)

"ततः सर्गे ह्यवष्टब्धे सिसृक्षोर्ब्रह्मणस्तु वै ।
मिथुनानां सहस्रं तु सोऽसृजद्वै मुखात् तदा॥
ततः प्रभृतिकल्पेऽस्मिन् मिथुनोत्पत्तिरुच्यते" ॥ (वायु० ८ अध्याय)

*
"शब्दादिविषया. शुद्धाः प्रत्येकं पञ्चलक्षणाः ।
इत्येवं मनसा पूर्वं प्राक्सृष्टिर्या प्रजायते ॥
गन्धर्वाद्याः पिशाचान्ता मानुषा ब्राह्मणादयः ।
पशवः पक्षिणश्चैव स्थावराः ससरीसृपाः" ॥ (वायु० ७ अ० ४०श्लो०)

इत्युक्तेश्चतुर्दशयोनिषु मनुष्ययोनेरूर्ध्वं गन्धर्वाख्यदेवयोनिरस्ति । ते देवयोनयश्चन्द्रमसो रश्मिमाश्रित्याध ऊर्ध्वं संचरन्ति । ते चाद्याविंशेन्द्रिया भवन्ति ।

तुल्यं युगसहस्रस्य नैशं कालमुपास्य सः ।
शर्वर्य्यन्ते प्रकुरुते ब्रह्मत्वं सर्गकारणात् ॥
ब्रह्मा तु सलिले तस्मिन् वायुर्भूत्वा तदाचरत् ।
स तु रूपं वराहस्य कृत्वाप·प्राविशत् प्रभुः ॥
उद्धृत्योर्वीमथाद्भ्यस्तु अपस्तासु स विन्यसत् ॥
(वा०पु० पूर्वा ८ अ० १ श्लोक)

इति वैज्ञानिकसृष्टित्रैविध्यम् ।

वैज्ञानिकब्रह्मकृतं वैज्ञानिकसृष्टिपांचविध्यम् ।

आत्म–वेद–लोक–प्रजा–धर्मविषयतया सृष्टि पञ्चधा ।

एकोऽस्त्यनन्तो यदि वा चतुर्धा ब्रह्माखिलो वेदचितः स भाति ।
तेष्वेषु वेदाः स्युरपौरुषेया निश्वासरूपाः परमेश्वरस्य ॥ १ ॥

---

* मानसी सृष्टि—शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धादय. ।
स्थानी सृष्टि—पृथ्वी–जल–तेजो–वाय्वाकाशादय ।
मैथुनी सृष्टि—चतुर्दशविधो भूतसर्ग. । (सत्वविशाला अष्टौ, रजोविशाल एक., तमोविशाला. पञ्च)
[देवा=ऊर्ध्वसर्ग], [मनुष्या=मध्यसर्ग], [तिर्यञ्च =मूलसर्ग.]

*
ब्रह्मा स्वयंभूश्च विराट् च सृष्टिं वैराज आत्मा च पृथग् विधत्ते।
तत्रान्तरन्तः क्रमसिद्धसृष्टौ सृष्टिर्विषूची सह संनिधत्ते ॥ २ ॥
स आत्मसृष्टिं स च वेदसृष्टिं सहैव लोक-प्रजयोश्च सृष्टिम्।
स धर्मसृष्टिं विदधे विधाता लोके प्रजावेदधृता सधर्मा ॥ ३ ॥

तत्रादौ ब्रह्मकृता आत्मसृष्टिः प्रथमा।

एकैक वीर्य्योपचयात् पृथग्वत् तत्रस्तु सर्गाः प्रथमा बभूवुः।
+ 1
यो ब्रह्मवीर्य्योपचितस्वरूपो ब्रह्माद्य एषोऽव्ययसंज्ञ आत्मा ॥ १ ॥
2
यः क्षत्रवीर्य्योपचितस्वरूपो ब्रह्मा द्वितीयोऽक्षर संज्ञ आत्मा।
3
विडाख्यवीर्योपचितस्वरूपो ब्रह्मा तृतीयः क्षर एष आत्मा ॥
÷
त्रिपूरुषो जायत एक आत्मा स चाशरीरोऽथ ततः शरीरी।
3 2 1
त्रिधास्ति जीवेशपरेशभेदात् पूर्वे परत्राङ्गतया निविष्टाः ॥ ३ ॥
स्वतः प्रकाशाः परतः प्रकाशा गतप्रकाशा अपि चेशदेहाः।
ससंज्ञकावान्तरसंज्ञका वा निःसंज्ञकाः सन्ति च जीवदेहाः ॥ ४ ॥

आत्मचतुष्टये प्रत्येकमवान्तर सर्गाः।

× 4 3 2 1
हृद्योऽथ धिष्ण्योऽथ हिरण्यगर्भः परोरजाश्चेत्यखिलोऽयमात्मा।
त्रिपूरुषः स्यात् प्रतिपूरुषं च प्रजायतेऽवान्तरधातुसर्गः ॥ १ ॥

---

* स्वयंभू ब्रह्मा आधिदैविकः, विराड्ब्रह्मा आध्यात्मिकः, वैराजोब्रह्मा आधिभौतिकः।

1 2 3
+ ब्रह्मवीर्यो ब्रह्मा अव्ययात्मा अशरीर, क्षत्रवीर्यो ब्रह्मा अक्षरात्मा, विड्वीर्यो ब्रह्मा क्षरात्मा ॥

÷ १ परमेश्वर शरीरी।
२ ईश्वरः शरीरी–स्वज्योति परज्योति, अज्योति.।
३ जीवः शरीरी–ससंज्ञ, अन्तसंज्ञ, असंज्ञ।

× १–परोरजा ब्रह्मा लोकातिगः, २–हिरण्यगर्भोऽण्डब्रह्मा सूर्ये, ३–धिष्ण्यो भूपिण्डब्रह्मा भूमौ, ४–हृद्य शरीरपिण्डब्रह्मा–इति ज्ञेयम्।

आनन्द-विज्ञान-मनांसि वाक् च प्राणश्च तत्राव्ययधातवःस्युः ।
ब्रह्मा तथेन्द्रोऽथ च विष्णुसोमाग्नयश्च तत्राक्षरधातवःस्युः ॥ २ ॥
त्रयः क्षरास्तत्र शरीरभेदाः स्थूलश्च सूक्ष्मोऽपि च कारणं च ।
प्रजाश्च वित्तानि च तेषु भूयश्चतुर्विधा उत्तर सृष्टयः स्युः ॥ ३ ॥
य आत्मसर्गाश्च शरीरिसर्गाः शरीरसर्गाश्च बभूवुरेषाम् ।
ब्रह्मैक आत्मा प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं वेदमयस्वरूपः ॥ ४ ॥
य एष आद्यः परमेश्वरोऽयं भूमैष नैको नियतोऽस्य देशः ।
परोरजास्त्वीश्वर एष तिष्ठत्येकस्त्रिलोकातिगतो द्यु पृष्ठे ॥ ५ ॥

अथ ब्रह्मकृता वेदसृष्टिर्द्वितीया ।

योऽपौरुषेयाँश्चतुरोऽपि वेदान् ब्रह्मा त्रिलोकाति गतो बिभर्ति ।
स ह्यण्डपिण्डेषु निधाय वेदं व्यधाच्चतुर्धा तमृगादिभेदैः ॥ १ ॥
यत्रस्थितां काञ्चनमूर्तिमीक्षे चक्षुर्न नस्तां स्पृशतीह देशे ।
किन्त्वागतां दृक्पटलेऽन्यमात्रां गृह्णाति तां, दिक्षु तता ऋचस्ताः ॥२॥
मूर्त्यङ्गपृष्ठात् परितोऽतिदूरे तन्मूर्तिदृक् क्षेत्रजवृत्तपृष्ठम् ।
समांशमस्त्यंशवितानतस्तत् पृष्ठानि सामानि वितानितानि ॥ ३ ॥
पृष्ठद्वयान्तः स्तृतयोः समन्तादृक्सामयोरच्युतयोरुपस्थे ।
नाभेः प्रधिं योऽग्निविधः, प्रधेर्यो नाभिं गत सोमविधो, यजुस्तत् ॥ ४ ॥
आपो हि भृग्वङ्गिरसो स्वरूपं भृग्वङ्गिरोरूपमथर्ववेद ।
वेदास्त्रयः सन्ति तदन्तरैते भृगूनिमानङ्गिरसः श्रिताःस्युः ॥ ५ ॥
ऋचं च सामाग्निमथर्वरूपं सृष्ट्वा ससर्जोत्तरसृष्टि मग्नेः ।
भूतानि देवाश्च तदन्तरात्मा सैषा त्रिधाग्नेर्यजुषोऽस्ति सृष्टिः ॥ ६ ॥

अथ ब्रह्मकृता लोकसृष्टिस्तृतीया ।

वेदो मनः प्राणभृताऽमृता वाक्, तद् व्योम तत्रैव समस्तमस्ति ।
न शून्यमाकाशमपित्वशेषं व्योमाश्रितं लोक्यत एष लोकः ॥ १ ॥

– अव्यय =आनन्द, विज्ञान, मन, प्राणः, वाक् ।
अक्षर =ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि, सोम ।
क्षर =कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर, प्रजा, वित्तानि ।

अग्नित्रयं यत् तदियं त्रिलोकी पृथ्व्यन्तरिक्षद्युरिति प्रभेदात् ।
वसन्ति देवा वसवोऽग्निलोके रुद्रादितेया परलोकयोःस्युः ॥ २ ॥
आपश्चतुर्थो भवतीह लोको भृग्वङ्गिरोमय्य इमाः स्युरापः ।
अब्-वायु-सोमा भृगवो, यमाग्न्यादित्या भवन्त्यङ्गिरस सहस्था ॥ ३ ॥
अष्टौ च देवा वसवोऽथ रुद्रा एकादश द्वादश चादितेयाः ।
स्यू रुद्रपुत्रा मरुतोऽपि रुद्रे विद्युद् भृगावप्सु समन्विताः स्यात् ॥ ४ ॥
एषां चतुर्णामपि दैवतानामिन्द्रोऽभवत् संसदि लोकपालः ।
निरीक्षणेऽनुग्रहनिग्रहादौ परीक्षणे चाधिकृतोऽयमासीत् ॥ ५ ॥

अथ ब्रह्मकृता प्रजासृष्टिश्चतुर्थी ।

(यजुषस्त्रिपुरुषसृष्टि)

विड् ब्रह्म च क्षत्रमिति त्रिवीर्य्यं यजुर्हि वाक्प्राणमनोरसत्वात् ।
इच्छा तपः श्रान्तिमयं त्रिवृत्तिर्ज्ञानक्रियार्थैर्भवति त्रिभावम् ॥ १ ॥
त्रिधाऽर्थसृष्टिः प्रथमोऽव्ययोऽर्थस्ततोऽक्षरोऽथ क्षरसृष्टिरन्ते ।
कार्य्यं क्षरं कारणमक्षरं स्यादस्त्यव्ययं कारणकार्य्यभिन्नम् ॥ २ ॥
ब्रह्मप्रधानाऽव्ययसृष्टिरादौ क्षत्रप्रधानाऽक्षरसृष्टिरन्या ।
विट्कृतमूर्तिः क्षरसृष्टिरन्ते स्थानाभिमानित्वमिहास्ति विट्त्वम् ॥ ३ ॥
यन्मानसं मौलिकमेकतत्वं स्थानं च यन्नावरणाद्व्यसङ्गम् ।
अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं यन्नीरसं निष्क्रियमस्त्यमात्रम् ॥ ४ ॥
देशानवच्छिन्नमयोगजं यत् स्वयंभुविश्वप्रतिहन्यमानम् ।
तदव्ययं निर्विकृतं समस्ते समन्वितं ज्ञानमिदं यथाऽस्ति ॥ ५ ॥
कर्म्मप्रधानं तु यदेकमन्यत् संपद्यते रूपमिहाक्षरं तत् ।
विड्मान्यधिष्ठातृविधं त्वशब्दं निस्वादमस्पर्शमरूपगन्धम् ॥ ६ ॥
आनन्दसंवित्कुलकामभेदा आविर्भवन्तीह यतोऽव्ययं तत् ।
आत्माऽव्ययं त्वक्षरमात्मभेदा ऋष्यादिदेवा अमृताश्च मर्त्याः ॥ ७ ॥
स्पर्शाश्च रूपाणि रसाश्च गन्धाः शब्दाश्च मात्राः क्षरलक्षणानि ।
स्थानाभिमानिप्रमितं विकारि क्षरं ससंख्यं परिणाहि विद्यात् ॥ ८ ॥
क्षरं त्रिधा स्यादणवो महान्तस्त्रिविग्रहा भूतमया निकायाः ।
सर्वे महाभूतमया निकाया महान्ति भूतान्यणुभिः कृतानि ॥ ९ ॥

अणून्यपृक्तैकरसानि भूतान्येभिर्विशेषै रसरेणव स्यु. ।
योगान्महान्तोऽथ च तद्विकारैर्जीवाश्च मूलानि च धातवश्च ॥ १० ॥
तत्र क्षरः सोऽक्षरतः कृतात्मा क्षरोऽक्षरं न व्यतिरिच्य तिष्ठेत् ।
एषोऽक्षरोऽप्यव्ययतः कृतात्मा विनाऽव्ययं नाक्षर एष भायात् ॥ ११ ॥
आत्माऽव्ययस्तं वृणुतेऽभितोऽक्षरः स देवसंघस्तमनु क्षरः श्रितः ।
स भूतसंघः पुरुषा अमी त्रयो ज्ञानं क्रिया त्रिष्वपि तेष्वनन्यवत् ॥ १२ ॥
तत्रोत्तमो ज्ञानमयोऽव्ययात्मा क्रियाप्रधानोऽक्षर एष कर्त्ता ।
अधः क्षरो भूतमयोऽन्यतन्त्रः स ज्ञायते स क्रियते विकारी ॥ १३ ॥

यजुषोवेदविशेषा सर्वा दैवतसृष्टयः ।

(यजुःसृष्टिप्रपञ्चः)

अग्निर्यजुः सोऽभवदव्ययोऽथाक्षरः क्षरश्च त्रिविधोऽपि सोयम् ।
ऋक्-सामयोरन्तरितः सदास्ते तदावृताः स्युः पुरुषास्त्रयोऽपि ॥ १ ॥
विड् ब्रह्म च क्षत्रमिति त्रिवीर्योऽव्ययः स वाक् प्राणमनोमयोऽथः ।
समन्वयात् तस्य सृजत्यशेषानिच्छा-तपः श्रान्तिभिरक्षरोऽयम् ॥ २ ॥
ब्रह्मा यजुः, सोऽव्यय एष आत्मा, यजुस्तथास्त्यक्षरदैवसंघः ।
यजुस्तथास्ति क्षरभूतसंघो द्विधा हि मर्त्यामृतभेदतोऽग्निः ॥ ३ ॥
यज्जूर्यजुस्तद्व्यचरे चरं तत् खे वायुरेतद्व्यमृतं च मर्त्यम् ।
देवा ख इन्द्रेऽमृतमस्ति रूपं भूतानि खे वाचि तदस्ति मर्त्यम् ॥ ४ ॥
त्रयोऽग्नय सोमविधे तथा द्वे ते वायवः पञ्चविधा इहेन्द्रे ।
भूतानि शब्दो मरुदम्बुतेजो मृच्चेति वाग् व्योमचराणि पञ्च ॥ ५ ॥
वायुर्यथाऽऽकाशपरिस्तृतोऽस्त्ययं शब्दोऽम्बुतेजो मृदपि स्तृतास्तथा ।
आदित्यवाय्वग्नय एवमङ्गिरा भृगुः प्रतिष्ठेन्द्रमनु प्रतिष्ठिता ॥ ६ ॥

ब्रह्मत्रयसृष्टिः ।

ब्रह्मास्ति वाक्-प्राण-मनोमयोऽव्ययः कश्चित्त्रिलोकातिगतस्त्रिवीर्यभृत् ।
ब्रह्मा परः सूर्य्य उदेत्यतोऽक्षरो गौर्ज्योतिरायुश्च रसा इह त्रयः ॥ १ ॥
ब्रह्मा तृतीयः क्षरमूर्तिरप्यतः प्रादुर्भवत्यत्र च ते रसास्त्रयः ।
वाग्गौरथ द्यौरिति चाक्षरक्षरौ युक्तौ कुमारं सृजतोऽग्निमद्भुतम् ॥२॥

कुमाराग्नि-चित्राग्नि-पाशुकाग्निभिर्दशाक्षरविराट्सृष्टिः ।

संवत्सरस्तूषसि सिञ्चति स्वं रेतः कुमारोऽयमुदेति तस्मात् ।
ज्योतिश्च गौरायुरिति त्रिसंस्थं रेतः कुमारस्त्रिविधस्ततोऽभूत् ॥ १ ॥
द्वे ज्योतिषी भूतविधास्त्वियं गौरायुस्तथात्मेति कुमारसृष्टिः ।
रेतःप्रभावादयमेक एव त्रेधा कुमारो विकसन् बभूव ॥ २ ॥
अग्नित्रयं सूर्य्यपदेन सोमद्वयं विदुश्चन्द्रपदेन पूर्वे ।
भूतानि पश्चाथ च विद्युदात्मा चित्रोऽष्टधाग्निर्नवमः कुमारः ॥ ३ ॥
एवं कुमारोग्निरिहाष्टमूर्तिर्भूत्वा चितोऽष्टाभिरभूदमीभिः ।
चितः पशुस्तत्र चिते प्रविष्टो भूत्वा कुमारोऽयमभूदिहात्मा ॥ ४ ॥
चित्योऽग्निरेषोऽस्ति यदष्टमूर्त्तिः पशुस्थ आत्मा तु चितेनिधेयः ।
मर्त्यो हि चित्योऽस्त्यमृतं निधेयं मर्त्यानि भूतान्यमृतास्तु देवाः ॥ ५ ॥
कुमार आद्योग्निरतोऽष्टमूर्तिश्चित्रोऽग्निरुत्पद्यत एष पश्चात् ।
स्यात् पाशुकोऽग्निः पशुषु प्रविष्टो वैश्वानरस्तैर्दशभिर्विराट्स्यात् ॥ ६ ॥ *

अथ ब्रह्मकृता धर्म्मसृष्टिः पंचमी ।

धर्म्मो हि वीर्य्यं ध्रियते हि धर्म्मो धृतो धारयते हि रूपम् ।
यद्धर्म्मयोगादिह योऽस्ति धर्म्मी धर्म्मे हते हन्यत एष तस्मिन् ॥ १ ॥
धर्मोऽस्ति सत्यं, नियतिर्हि सत्यं यदस्त्यसाधारण वस्तु धर्मम् ।
नानाविधो धर्म्मचितोऽस्ति धर्मा तद्धर्मनाशादिव धर्मिनाशः ॥ २ ॥
उष्णत्वधर्म्मेण हि योऽग्निरुक्तः स औष्ण्यहान्यैति हि शीतलत्वम् ।
तद्धर्म्मनाशाद् ध्रुवमग्निनाशः सोमः सधर्म्मी भवति क्षणेन ॥ ३ ॥

वीर्य्यचतुष्टयनिबन्धनं चातुर्वर्ण्यम् ।

अनन्तभेदा इह सन्ति धर्म्मास्तज्जातयः सन्ति चतस्र एव ।
ब्रह्माथ च क्षत्रमथो विडेवं शूद्रश्च तैः सर्वजगत् प्रपन्नम् ॥ १ ॥
ब्रह्मास्ति हि ज्ञानमयं प्रशान्तानन्दोदयं, क्षत्रमिदं तु वीर्य्यम् ।
क्रियामयोत्साहमयं समृद्धानन्दोदयं श्रीमयवीर्य्यकं विट् ॥ २ ॥
नाक्रम्यतेऽन्यैर्न च दभ्यतेऽन्यैर्निरुद्धसर्वप्रतिपन्थि वीर्य्यम् ।
न चापरानाक्रमते विहन्तुं तद्ब्रह्म शान्तं हितकारि वीर्य्यम् ॥ ३ ॥
स्वायत्तरक्षाप्रवणं परान् प्रत्याक्रम्य विक्षोभणमुग्रमग्र्यम् ।
बुभुक्षितं चोन्नतिगामि सर्वसहं विदुः क्षत्रमितीह वीर्य्यम् ॥ ४ ॥

---

* कुमाराग्निरेकः, चित्राग्नयोऽष्टौ, पाशुकाग्निश्चैकः—इत्येव दशाक्षराविराट्सृष्टिः ।

नानाविधान्नप्रचयस्य सर्वोपभोगयोग्यस्य विशेषयत्नैः ।
संपादनं प्रापणमस्ति वीर्य्यं विडूनाम दृब्धं च पराश्रितं तत् ॥ ५ ॥
इतोऽन्यथा यत्किमपीह वीर्य्यं साधारणं तत्त्रितयोपभोग्यम् ।
आश्वेतदुच्चैर्द्रवतीति शूद्राभिधं प्रसिद्धं भवतीह वीर्य्यम् ॥ ६ ॥
यद् दृश्यते नेह तदस्ति किञ्चिद् यस्यैकमेषां न भवेत् स्वरूपम् ।
जीवेषु मूलेष्वपि धातुषु 'स्युर्ब्रह्मादिधर्मा प्रतिकल्पसिद्धाः ॥ ७ ॥
देवेषु धर्मास्त इमे पृथग्वद् दृश्यन्त एषामधिकांशयोगात् ।
पृथ्व्यां नरा. पञ्चविधा अपीमे ब्रह्मादिवीर्य्याः प्रथिताश्चतुर्धा. ॥ ८ ॥
+
अग्निर्विशेषा दिव ब्रह्मणस्पतिर्बृहस्पतिर्वा सविता सरस्वती ।
देवास्तथान्येऽपि च केचन श्रुतास्तद्ब्रह्मवीर्य्या रविरश्मिसंश्रिताः ॥९॥
÷
यमेन्द्ररुद्रा अथ वायुसोमेशानाश्च मृत्युर्वरुणोऽष्ट देवाः ।
क्षत्रस्ववीर्य्या, गणदेवतासु प्रभुत्वमेते दधते बलेन ॥ १० ॥
विश्वे च देवा वसवश्च रुद्रा अथादितेया मरुतश्च साध्याः ।
आभास्वरास्ते तुषिताश्च सर्वे विड्धर्म्मिणोऽमी गणदेवताख्या· ॥ ११ ॥
देवेषु पूषाऽस्ति हि शूद्रधर्मा ब्रह्मादिधर्मत्रितयाच्च हीना· ।
देवाश्च शूद्राः पशवश्च सर्वेऽप्यमीस्वधर्मप्रवणाः प्रथन्ते ॥ १२ ॥
यद् ब्रह्म, यत्क्षत्रमथो विडेतद्धर्म्मत्रयं तेषु सदैवतेषु ।
ससर्ज देवत्रययोगभेदाद् ब्रह्मादिधर्म्मा इह जन्तुषु स्युः ॥ १३ ॥
"ये देवा देवेष्वधि देवत्वमान्ये ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु:" ॥
(यजु. स० १७।१४)

इति वैज्ञानिकं ब्रह्मकृतं सृष्टिप्रकरणम् ।

+ मैत्रायणीयानामानुश्रविकः श्रूयते–पञ्चवै ब्राह्मणस्य देवताः–अग्नि, सोम·, सविता, बृहस्पति., सरस्वती । तस्माद् ब्राह्मणमन्ये मनुष्या उपधावन्ति। एतस्य हि भूयिष्ठा देवताः। तासां तिस्रोऽवान्तर श्रोत्रियस्य–अग्नि, बृहस्पतिः, सरस्वती । तस्माच्छ्रोत्रियमश्रोत्रिया उपधावन्ति । एतस्य हि अवान्तर भूयिष्ठा देवता·। (मैत्रा०)

÷ "एतानि देवत्रा क्षत्राणि–इन्द्रो वरुण सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति"।
(शत. ब्रा. १४।३।२)

पौराणिकसृष्टिप्रसङ्गे-ऐतिहासिकसृष्टिप्रकरणम् ।

ऐतिहासिकसृष्टिकालविभागप्रसङ्गः ।

१ २ ३ ४
सृष्ट्यादितोऽद्यावधि वन्ययुगम्, आदित्रेतायुगं, दैवतयुगं, विद्यमानयुगमिति-
भेदाद् युगचतुष्टयात्मककालविभागः ।



संक्षेपतो दर्शितमित्थमेतत् पुराणमादावथ चेतिहासः ।
प्रदर्शनीयोऽस्ति तदर्थमादौ चतुर्युगं संप्रति भावयामः ॥ १ ॥
युद्धं महाभारतमुग्रमासीदर्वाक् ततोऽर्वाग् युगमेतदस्ति ।
प्राग् युद्धतो ब्रह्मजनेश्च पश्चाद् यदन्तरं देवयुगं तदाहुः ॥ २ ॥
प्राग्ब्रह्मत सभ्ययुगं त्विहादित्रेतायुगं नाम कदाचिदासीत् ।
स यज्ञकालोऽथ ततोऽपि पूर्वं संभाव्यते वन्ययुगं त्वसभ्यम् ॥ ३ ॥
१ २ ३ ४
वन्यःकालः प्राक्तनः, साध्यकालो दैवःकालो विद्यमानश्च कालः ।
१ २ ३ ४
पर्षद्ब्रह्मानुद्भवो यत्र तस्य प्रादुर्भावोऽतिप्रभावो निपातः ॥ ४ ॥
१ २ ३ ४
यत्राभावो यज्ञविज्ञानयोः प्राक् प्रादुर्भावोऽभ्युन्नतिर्यत्र पातः ।
१ २ ३ ४
स्वाराट् सम्राड् भूपतिर्यत्रनासीद् तस्योत्पत्तिः प्रौढता यत्र पातः ॥५॥

असभ्ययुगम् ।

तत्रादियुगस्य असभ्ययुगत्वसंभावना ।

पुरा त्वसभ्या मनुजा अशिक्षिताः कदाचिदासन्निति तर्कयामहे ।
तेषां चरित्रं समयानुसारतोऽसभ्यं भवेत् तल्लिखितं न लभ्यते ॥ १ ॥
न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः पृथग्विभक्ता अभवंस्तदात्वे ।
धर्मव्यवस्था न, न नीतिसंस्था, न राज राष्ट्रादिविधिस्तदासीत् ॥ २ ॥

मणिजाख्यानामार्याणां सभ्यतायुगम् ।

सभ्यात्मसृष्टिकालस्य प्राथमिकसभ्यतायुगस्य द्वितीययुगत्वम् ।

×

ततः परं ये प्रथमे सुशिक्षितास्ते यामनाम्ना प्रथिताः पुराऽभवन् ।
स्वायंभुवं नाम तदन्तरं विदुर्यस्मिं तु काले त इमे भुवि स्थिता ॥ १ ॥
यामाश्च तृप्तिमन्तस्त्विषिमन्तो व्रजकुला इति त्रिविधाः ।
तेषां च तृप्तिमन्तो द्वादशकास्त्रय इह प्रथिताः ॥ २ ॥
अजिता जिदजितशब्दा जिताः पृथग् द्वादशासंस्ते ।
शास्तारस्त्विषिमन्तो व्रजकुलशब्दा विशश्च दासाश्च ॥ ३ ॥
इत्थं यामास्त्रिविधाः प्रागासंस्ते स्वकर्म्मनिष्ठाभिः ।
ते च विलुप्ताः कालेऽतीते मणिजाअथोदिता अपरे ॥ ४ ॥
दिश्युत्तरस्यां प्रबभूव तत्स्थितिर्हिमालयादुत्तरसागरावधि ।
चीनप्रदेशे प्रथमस्तदुद्भवोऽभवत् ततस्ते प्रथिता इतस्ततः ॥ ५ ॥
चीनादिमे चोत्तरपश्चिमां दिशं विजित्य नाकावधि भूयसाऽवसम् ।
या हंस तारास्ति ततस्तु पश्चिमोत्तरे तुरीयांशसमे नभस्तले ॥ ६ ॥
कदाचिदासीद् ध्रुव एष, तादृशे बभूव काले मणिजोदयस्थितिः ।
आसीत् तदानीं द्विविधा जनस्थितिः कश्चिद्विभागो वनवासिनामभूत् ॥७॥
परो विभाग' पुरवासिनां नवस्त एव लोके मणिजा इति स्तुता ।
अशिक्षिताः प्राकृतिका असभ्याः सर्वे निकाया वनवासिनस्ते ॥ ८ ॥

× "त्रेतायुगमुखे पूर्वमासन् स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
देवा यामा इति ख्याता· पूर्वं ये यज्ञसूनव· ॥
अजिता ब्रह्मणः पुत्रा जिता जिदजिताश्च ये ।
पुत्राः स्वायंभुवस्यैते शुक्रनाम्ना तु विश्रुताः ॥
तृप्तिमन्तो गणा ह्येते देवानां तु त्रय.स्मृता. ।
तुषिमन्तो गणा ह्येते वीर्यवन्तो महाबलाः ॥
ये वै व्रजकुलाख्यास्तु आसन् स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
कालेन बहुनाऽतीता अयनाब्दयुगक्रमै. ॥"

(वायु पु० अ० ३१।३।२)

लुठच्चरा वा पशुवृत्तयो वा ख्याता अनार्या अपि बर्बराख्याः ।
सभ्यास्त्विमे ये मणिजास्त आर्या इति प्रसिद्धा अभवन् पुरात्वे ॥ ६ ॥
...   .

व्यवस्थितामादधतात्मवृत्तिं मर्यादया कल्पितया त एते ॥ १० ॥

मणिजानां चातुर्विध्यम् ।

(प्रथमसभ्यानां साध्य-महाराजिकाऽऽभास्वर-तुषितभेदाद् विभागचातुर्विध्यम्)

आसीदमीषां समयोऽयमादित्रेतायुगाख्यो मणिजाभिधानाम् ।
आसंस्तदात्वे त इमे समस्ताश्चतुर्विधाः कर्मवशाद् विभक्ताः ॥ १ ॥

साध्या महाराजिकसंज्ञका अथो अाभास्वरा वा तुषिता इति क्रमात् ।
ते ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवत् कर्माण आसन् मणिजाभिधा नराः ॥ २ ॥

ज्ञानसंचयप्रवणाः साध्या द्वादश ॥ १२ ॥

त्रेतासु यज्ञानुविधिः प्रक्लृप्तो यैर्यै भृशं यज्ञरता बभूवुः ।
साध्यानिमानाहुरमीहि नाके स्वर्गैकदेशेऽप्रथयन्त यज्ञान् ॥ १ ॥

यज्ञावृदुद्बोधकयज्ञवेदग्रन्था अनेके रचिता अमीभिः ।
सब्राह्मणाः सोपनिषद्रहस्याख्यानेतिहासा सपुराणकल्पाः ॥ २ ॥

साध्या बुधा इत्थमिह प्रधाना आसन् पुरा द्वादशवर्गभिन्नाः ।
त एव वीरान् व्यवसायिनोऽन्यान् कारूंश्च नीत्वा निजकर्म चक्रुः ॥३॥

शत्रुविध्वंसप्रवणा महाराजिकाः विंशं शतम् ॥ १२० ॥

ये बर्बराः केचन यज्ञकर्मप्रध्वंसिनः शत्रव उद्बभूवुः ।
तेषां निरासाय तदा सशस्त्राः केचिन्महाराजिकसंज्ञयासन् ॥ १ ॥

एषां महाराजिकसञ्ज्ञकानां प्रबन्धकर्मानुविभागहेतोः ।
२२०
शतद्वय विंशमशेषविश्वत्राणाश्रितश्रेणय आविरासन् ॥ २ ॥

अर्थसंचयप्रवणा आभास्वराश्चतुषष्टिः ॥६४॥

यज्ञार्थसंभारसमर्थका ये व्यापारिणः संपदुपार्जकाः प्राक् ।
बभूवु राभास्वर संज्ञया तानाख्यापयन्तिस्म धनप्रधानान् ॥ १ ॥

समुद्रयानात् परदेशयानात् पौरायणात् कर्षणपाशुपाल्यात् ।
आभास्वराणां व्यवसायभेदादासन् चतु षष्ठिरिहप्रभेदाः ॥ २ ॥

अपूर्व-प्रतिरूपोभयविधशिल्पप्रवणास्तुषिताः षट् त्रिशत् ॥३६॥

शिल्पप्रवीणाः कतिचिन्मनुष्या नानाविधा अद्भुतशिल्पवृत्तीः ।
कुर्वन्त आसन् प्रतिरूपशिल्पान्यपीह नाम्ना तुषितास्त उक्ताः ॥ १ ॥

अपूर्वशिल्पप्रतिरूपशिल्पप्रभेदतोऽवान्तरभेदतश्च ।
आसन्नमीषां तुषिताभिधानां षट्त्रिशदग्र्या प्रथिताः प्रभेदाः ॥ २ ॥

लोकव्यवस्था ।

प्रथमसभ्यानामप्रत्यक्षविषयेषु प्रतिपत्यभावः ।

चतुर्विधा इत्थममी सुसभ्याः प्राग् बर्बरेभ्यः प्रथगात्मसंस्थाम् ।
समाजबन्धेन विधाय नाना लोकव्यवस्थां रचयन्त आसन् ॥ १ ॥

ते लोकवृत्तप्रवणा अशेषा अहर्निशं कर्मपरायणत्वात् ।
सत्यश्रमाः स्वार्थपराः परोक्षे धर्मेऽनभिज्ञा मणिजाः पुरासन् ॥ २ ॥

तेषां च यज्ञा अपि भौतिकानां वृष्टि-प्रजा-स्त्री-विभवादिकानाम् ।
सर्वैषणानामिह साधनार्थाः स्वर्गार्थकं कर्म न किञ्चिदेषाम् ॥ ३ ॥

साध्ययुगीयानि दश विज्ञानानि ॥१०॥

त एव साध्या मणिजा मनस्विनः स्वतो मनश्चक्रुरिदं जगत् प्रति ।
किमस्य मूलं कथमुद्बभूव तत् कियज्जगत् कर्हि गमिष्यति क्षयम् ॥ १ ॥

विमर्शयन्तो बहवस्त इत्थं पृथक् पृथग् भिन्नगतिं प्रजग्मुः ।
*
ते ह्यन्यदन्यज्जगतोऽस्य मूलं निर्धारयन्तो विमता बभूवुः ॥ २ ॥
२ ६ ४ ३
एके रजांस्याहुरथाम्भ एके वायुं च वा व्योम च वैक आहुः ।
७ ८ १
तथाहुरन्येऽमृतमृत्युमन्येऽहोरात्रमन्ये सदसत्वपश्यन् ॥ ३ ॥
५ ९ १०
वयो वयोनाधमुशन्ति केचिद् दैवं परे संशयमेषु केचित् ।
तदित्थमग्रे दशधा प्रवादाः कालेषु जाता बहुषु प्रचारम् ॥ ४ ॥

इति ऐतिहासिकसृष्टिकालविभागप्रसंगः ।



---

१ २ ३ ४
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरोयत् ।
५ ६
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
७ ८
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नास ॥

९
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
१०
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जने नाथा को वेद यत आबभूव ॥ (ऋ. म.१०,सू. १२९)

ऐतिहासिकसृष्टिकर्तृप्रकरणम् ।

अथ युगान्तरपरिवर्तकस्य ब्रह्माख्यस्यालौकिकविदुषः प्रादुर्भावाद् ब्रह्म-सृष्ट्युपलक्षितं तृतीयं युगम् ।

भूयस्तु कालेषु गतेषु साध्येष्वेकोऽतिविद्वान् पृथगुद्बभूव ।
तस्य प्रभावादभवन्नवस्यारम्भो युगस्येह समस्तपृथ्व्याम् ॥ १ ॥
स वेदसृष्टिं स च धर्म्मसृष्टिं स च प्रजासृष्टिमलं विधाय ।
स लोकसृष्टिं विदधे विधाता स्रष्टेति विख्यातिमगात् ततःसः ॥ २ ॥

ब्रह्मेति सोऽपश्यदशेषमूलं ब्रह्मेति विख्याति मगात् ततःसः ।
ब्रह्मोद्यमप्येषविधाय नानोक्थवादिसाध्यान् व्यजयद्विवादे ॥ ३ ॥
*
ब्रह्माऽग्रहीज्जन्म तु पुष्करे पुरेति चाश्रूयतगोपथश्रुतौ ।
×
जम्बूसरित्संनिहितं हि पुष्करं तद् यद् बुखारेत्युदितं विधर्मिभिः ॥४॥
ब्रह्मास्त्यथर्वापि स पुष्करेऽस्मिन् जज्ञेऽतनोद्यज्ञपथांश्च तत्र ।
आथर्वणो स्तूयत एष एव ब्रह्मा न चाद्यास्त्विति कश्चिदाह ॥ ५ ॥
−
"त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ।
+
तमु त्वादध्यङ् ऋषि पुत्र ईधे अथर्वणः वृत्रहणं पुरन्दरम्" ॥
(ऋक् स० ६।१६।१३–१४)

इत्यादिमन्त्रैर्जगतोऽस्य मूर्धस्वरूपतः पुष्करतोह्यथर्वा ।
अग्निं वितेने ह्यरणिं प्रमथ्य प्राग् यज्ञियाग्नेर्भवति स्म यज्ञः ॥ ६ ॥
एतान् नु मन्त्रानुपलक्ष्य पूर्वेऽथर्वोद्भवं पुष्करके यदाहुः ।
सत्यं नु तत्पुष्करपर्णं आसीदग्न्युद्भवोऽथर्व कृतोऽधिदैवम् ॥ ७ ॥

---

* न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे ब्रह्मण स्थानमुत्तमम् । तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमान सुरासुरैः । (ब्र ८।८७)

× ब्रह्म ह ब्रह्माणं ससृजे । स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे । (गोपथ ब्रा १।१६)

− सर्वजगतो वाहकात् इत्यर्थः ।　　+ पुष्करमिति असुरपुराणां दारयितारम्'

तथाप्यथर्वा यदि पुष्करेऽभूत् स्याद् ब्रह्मणोऽपि स्थितिरत्र तर्हि ।
ब्रह्मा पिताऽथर्वण एष आसीद् गृहं च जन्मास्य च तत्र सिद्धम् ॥ ८ ॥

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्" ॥

(मु० १।१-२)

प्रागुज्योतिषपुरे ब्रह्मणोऽवस्थानम् ।

[illegible]वादधस्तात् पृथिवीप्रदेशः सुमेरुरित्थं प्रतिपत्ति लोकाः ।
ब्रह्माभिजिद्धादधरः प्रदेशः सुमेरुरासीत्तु पुरायुगे सः ॥ १ ॥
तस्मिन् सुमेरौ विततप्रदेशे प्रागुज्योतिषं नाम पुरं यदासीत् ।
ब्रह्मैष तत्र न्यवसन् स कृत्वा लोकव्यवस्थामखिलानशासत् ॥ २ ॥
स वेदशास्त्राणि विरच्यतेषां द्विधा विभागान् निपुणं व्यधत्त ।
विज्ञानहेतोरुपवेदभागान् ज्ञानाय वेदानकरोत् प्रधानान् ॥ ३ ॥
धर्म्मार्थकामा इति हि त्रिवर्गा विज्ञानमेषां विषया विभक्ताः ।
ज्ञानं तु मोक्षाय तदात्मसारं साधारणं तद्विषया हि वेदाः ॥ ४ ॥

कान्तिमत्यां पुर्य्यां ब्रह्मणः शासनसभा ।

प्रागुज्योतिषे ब्रह्मपुरे पुरस्तात् स धर्म्मसंस्थां पुरि कान्तिमत्याम्* ।
नियम्य तस्यां सह लोकपालैर्धर्म्मव्यवस्थां स्वयमादिदेश ॥ १ ॥
स धर्म्मसंस्थामथ नीतिसंस्थां विधाय ताभ्यां विदधे प्रबन्धान् ।
तत्रादितो धर्म्मसभां स कृत्वा न्ययुङ्क्त तस्यां दश लोकपालान् ॥ २
एषां दशानामखिलान् भुवोऽर्थान् कृत्वाऽधिकारे पृथिवीं शशास ।
शशास सभ्यैः सह तैर्यथावद् दिक्पालकांश्च व्यदधात्पृथग्वत् ॥
इत्थं पुरामी दश लोकपालाः प्राग्ज्योतिषे ब्रह्मपुरे नियुक्ताः ।
स्थित्वा सभायामिह कान्तिमत्यां नयेन लोकानखिलानशासन् ॥

---

* वाराहे (अ० ७५) तु 'मनोवती' इत्युक्तम् ।

ब्रह्मा तु तेषां प्रथमः प्रधानः श्रैष्ठ्यं विशिष्टैष्वखिलेषु लेभे ।
यथेच्छमेषामधिकारतोऽसौ प्रच्यावकश्चात्र नियोजकश्च ॥ ५ ॥
महा प्रभावोऽखिलविद्य एष ब्रह्मेत्यगृह्णाद्विरुदं स्वयं स्वाम् ।
भूमिस्थिताः सर्वविधाः प्रजास्ता वशे चकार स्वयमेकशास्ता ॥ ६ ॥
एको मनुष्योऽखिलभूमनुष्यान् विभिन्नजातीन् परिवर्त्य कात्स्न्र्यात् ।
सूर्य्यस्थितः प्राणकुलानुरूपैः समाजबन्धैरकरोन्निबद्धान् ॥ ७ ॥
सभ्यानशेषान् स्ववशे विधाय न्यवासयत्तान् परितस्त्रिलोक्याम् ।
यस्येदृगासीत् प्रबलप्रभावस्तद्ब्रह्मणा स्पर्धयितुं क ईष्टे ॥ ८ ॥
प्रजापतिस्तेन कृतः प्रजानां प्रजापतित्वं च कृतं चतुर्धा ।
राट्त्वं, च सम्राट्त्वमथ स्वराट्त्वं विराट्त्वमेते च कृता विभेदाः ॥ ९ ॥
भोजो महाभोज इति द्विधाराट् यश्चक्रवर्ती स च सार्वभौमः ।
स्वाराट् द्विधेन्द्रश्च महेन्द्र इत्थं, विराड् द्विधा ब्रह्मपदश्चविष्णुः ॥ १० ॥
प्रत्येकमेषां तु यथा स्वरूपं तत् पञ्चसु ख्यातिषु विस्तरेण ।
प्रदर्शितं ब्रह्मकृता व्यवस्था सर्वा च तत्रैव विशिष्य नेया ॥ ११ ॥
अष्टासु भूशास्तृपदेष्वमीषूत्तरोत्तरश्रैष्ठ्यमधीश्वरत्वम् ।
ययोर्विराजोरिह पारमेष्ठ्यं तयोर्न सैन्यं न पृथक् स्वराष्ट्रम् ॥ १२ ॥
न राष्ट्रमासीन्न बलं न दुर्गं न चास्य कोश' प्रचुरस्तथापि ।
सर्वे स्वराजः प्रणमन्ति मूर्ध्ना ब्रह्माणमाराध्यगुरुं त्रिलोक्याः ॥ १३ ॥
अनेकसम्राट्परिपूज्यपादान् देवासुरेन्द्रानपि यः स्वराजः ।
×
तद्विष्ायतोऽच्यावयत स्वतन्त्रस्तद्ब्रह्मणा स्पर्धयितुं क ईष्टे ॥ १४ ॥
यद् ब्रह्मवीर्य्यं तदिहोत्तरोत्तरोत्कर्षात् प्रतिष्ठां लभते चतुर्विधाम् ।
क्रमेण विप्रा ऋषयश्च देवता ब्रह्माण एषां परमाः परे परे ॥ १५ ॥
परोपदेशश्रुतसर्ववेदा विप्रास्ततः सन्त्यृषयो वरेण्याः ।
द्रष्टार एते ह्यथ यज्ञसिद्धदैवात्मनाऽध्यात्ममयास्तु देवा. ॥ १६ ॥

जीवेश्वरसम्बन्धभेदादाध्यात्मिको ब्रह्मा द्वेधा ।

ब्रह्मा प्रभुः षड्विध एष तत्र द्विधाऽयमाध्यात्मिक एष तावत् ।
दिव्यो द्विधाऽथैषनरो द्विधैते सर्वेऽपि साम्येन सृजन्ति विश्वम् ॥ १ ॥

× इतिहास वद् ।

जीवेश्वराभ्यां द्विविधः स तेषामाध्यात्मिको यत्र यथास्ति देहे ।
यथा स सृष्टिं तनुते तदुक्तं परात्परस्योपनयानुवाके ॥ २ ॥
ईशानुवाके तु परः प्रदर्शितो ब्रह्मा स योऽस्तीश्वर विग्रहा श्रयः ।
यथा स सृष्टीरसृजच्च पञ्चधा तथैव तेऽन्येऽप्यसृजंस्तदुच्यते ॥ ३ ॥

अच्युव ताराध्रुव भेदादाधिदैविको ब्रह्मा द्वेधा ।

तत्राद्युव:पृथ्वीध्रुवान्तरालवर्ती ।

अष्टाविंशतिपर्य्याया वृत्तार्कभ्रममण्डलम् ।
नागराज ऋषिप्रोद्यत् पारमेष्ठ्य समुद्रगः ॥ १ ॥
नारदर्षिप्रजनिते सरस्वत्यस्ति नागराट् ।
अनन्ताख्यो वायुमयस्तत्र विष्णुरयं रविः ॥ २ ॥
*
स्कम्भयज्ञोऽस्त्ययं विष्णु· सूर्य्यो नारायणः प्रभुः ।
तन्नाभौ पृथिवीपद्मं सुषुम्णानाडिदिग्दलम् ॥ ३ ॥
अन्तः पृथिव्यां यः सोऽग्निर्ब्रह्माऽत्र प्रतितिष्ठति ।
मेरौ प्रादुर्भवन् सोऽन्तो ध्रुवबिन्दौ प्रसज्जते ॥ ४ ॥
पृथ्वी हि वेद्यत्र मतास्त्रयो ' ग्नयो यज्ञाहुतिस्त्वाहवनीयमध्यत· ।
उच्छिष्टतोऽनन्तविधा हि सृष्टयो गर्भे पृथिव्या अनिशं भवन्त्यनः ॥५॥
स्याद् गार्हपत्योऽग्निरमुष्य पश्चिमे प्रदृश्यते नक्तमयं परिज्वलन् ।
काष्ठेषु सुप्तो मथनात्प्रबुध्यते स पार्थिवोऽस्त्याहवनीयतः पृथक् ॥ ६ ॥
अपार्थिवा येऽन्तरतः पृथिव्यां धिष्ण्याग्नयोऽनन्त विधास्त एते ।
×
रोगादयोऽनन्तविधा विकारा भवन्त्यनात्मीयत देह तेभ्य ॥ ७ ॥
अग्नित्रयान्नूनमत पृथग्यद् विभ्राजते कश्चिदिहाग्निरन्यः ।
स ब्रह्मलोकादुपपन्न आत्मा वेदाः पृथिव्या हि ततः प्रवृत्ताः ॥ ८ ॥
ब्रह्मा स पृथ्वी हृदये निबद्धो व्याप्नोति सर्वां पृथिवीं समन्तात् ।
तद् ब्रह्मणोऽन्तो बहिरेत्य पृथ्व्या आलम्बते यत्र दिवि ध्रुवः सः ॥ ९ ॥
एष ब्रह्मा जगत् सर्वं जगत्यां यत् प्रतिष्ठितम् ।
वेद-धर्म्म-प्रजा-लोकभेदात् सृजति तत् सदा ॥ १० ॥

' 'यत्र इन्द्रमवर्धयद्, यद्भूमि व्यवर्त्तयत् । चक्राण ओपश दिवि" । (ऋ०अ०, ६, अष्ट.१ वर्ग १४)
×–१३ रोगा । १०७ ओषधय । अयौषधिसूक्तैः रोग प्रतीकारा ।

ताराध्रुवो नाकध्रुवान्तरालवर्ती ।

नागभोगासनो विष्णुः पद्मं तन्नाभिसंभवम् ।
ब्रह्मा पद्मासनः सृष्टिं सृजत्यत्रचतुर्विधाम् ॥ १ ॥
एतदेव तु विज्ञानं शिक्षितुं वैदिकैः पुरा ।
ताराविज्ञानविद्यायां तद्रूपं परिकल्पितम् ॥ २ ॥
व्योम्नि तारामयोऽनन्तो नागो भात्यस्य पृष्ठतः ।
कदम्बमण्डलं विष्णुस्तन्नाभिकमलं ध्रुवः ॥ ३ ॥
ध्रुवबिन्दुः पृथिव्यक्षरूपो ब्रह्मा ध्रुवो स्थितः ।
भिन्नो भिन्नान् वेद-धर्म्म-प्रजा-लोकान् सृजत्ययम् ॥ ४ ॥
पुरायुगेऽभिजिद् ब्रह्मा यः ख्यातो हंसवाहनः ।
तेनैते वैदिका धर्म्मा देवलोकाः प्रवर्तिताः ॥ ५ ॥
एषा विज्ञानशैल्यासीद् वैदिकानां पुरायुगे ।
वैज्ञानिकार्थग्रथनं स्थेम्ने तारास्वकल्पत ॥ ६ ॥
एतदेव तु विज्ञानं कृष्णो दर्शयितुं क्रमात् ।
ब्रह्म-पद्मे विष्णु-वायू सरम्वन्नारदौ जगौ ॥ ७ ॥

आधिभौतिकब्रह्मणो ऋत्विग्ब्रह्मावरणासिद्धः कृत्रिमः ।

ब्रह्मा चतुर्विधां सृष्टिमातनोत्याधि दैविकः ।
ततश्चतुर्विधां सृष्टिमातनो त्याधि भौतिकः ॥ १ ॥
ब्रह्माऽधियज्ञं प्रमुखः सऋत्विजां स सर्वविद्यो मनसोपकारकः ।
स्रष्टुः सृजन् दैवतनुं स याज्ञकीं धर्म्मं च लोकं च तनोति तत्कृते ॥ २ ॥
यथा हविर्य्यज्ञविधानपूर्वकं प्रकुर्वतः सौमिकयज्ञमञ्जसा ।
धर्म्मांश्च लोकाश्च तनुश्च दर्शितं तद् यज्ञविद्यामधुसूदने मया ॥ ३ ॥

आदिकविर्ब्रह्मा प्राग्मेरुस्थः प्रकृतिसिद्धः स्वयमूः ।

यथैष ऋत्विक्प्रवरो द्विधा वा दिव्यो यथाऽध्यात्मिक एष जीवः ।
यथेश्वरस्तद्वद्यं नरोऽपि ब्रह्मा व्यधात् पञ्चविधाः ससृष्टीः ॥ १ ॥
दिव्य ब्रह्मा पृथिव्यक्षो ध्रुवपद्मे यथा स्थितः ।
नर ब्रह्मा तथा मेरुपद्मे देवान् शशासह ॥ २ ॥

भूगर्भप्रभृतिर्मेरुर्मध्यो ध्रुवपरायणः ।
पृथिव्यब्जमयो ब्रह्मा नृब्रह्मप्राणदोऽभवत् ॥ ३ ॥
भूभृद्धिरण्यशृङ्गाख्य इलावृत्तहृदि स्थितः ।
स मेरुपर्वतो नाम तत्र ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
मेरुपद्मस्थितो ब्रह्मा चातुर्सर्ग्यं ससर्जह ।
वेद-प्रजा-लोक-धर्मभेदाद् सर्गाश्चतुर्विधाः ॥ ५ ॥

नरब्रह्मणो दिव्यब्रह्मावतारत्वम् ।

आकस्मिकोऽवतारोऽयं दैवयोगात् प्रवर्तते ।
गर्भे जन्मनि पश्चाद्वा दैवं तेजो विशेत् तनुम् ॥ १ ॥
जायते स कृतप्राणो यस्य देवस्य तेजसा ।
तेजसोऽस्य प्रभावेण जायन्ते तस्य वृत्तयः ॥ २ ॥
अर्चिः प्रदीपो न त्वन्यत् किन्तु सोपस्करेऽर्चिषि ।
सवर्तिकातैलपात्राधारे दीपत्वमिष्यते ॥ ३ ॥
सर्व देवमये देहे योऽन्यान् देवोऽतिवर्तते ।
सोऽङ्गी देवोऽवतीर्णोऽस्मिन् विशिष्योक्तोऽङ्गदेवभृत् ॥ ४ ॥
"यद्-यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा" ।
उल्वणाव्ययतेजोंऽशसंभवं तत्तदिष्यते ॥ ५ ॥
तेजोभ्यः सर्वभूतानां नरो यद्यपि जायते ।
तथापि तत्र यो देवोऽतिमात्रस्तत्प्रधानता ॥ ६ ॥
अद्यत्वे ब्रह्मणोऽत्तोऽयं समुद्रेऽन्तर्निषीदति ।
न तत्र मानुषं जन्म तस्मान्न ब्रह्मसंभव ॥ ७ ॥
अत्ते स्थलचरेऽप्यस्य मनुष्यप्राणतोऽन्वयः ।
यथा भवेत् स प्रकारो नाद्य यावत् परीक्षितः ॥ ८ ॥
सर्वत्र दैवतेजांसि सन्ति सर्वत्र देहिनः ।
तेषां न लक्ष्यते योगे तारतम्ये च कारणम् ॥ ९ ॥
आकस्मिकमिदं दृष्टं तेजोऽवतरणं क्वचित् ।
क्व चावतरति ब्रह्मवीर्य्यं क्षत्रं च तत् क्वचित् ॥ १० ॥
केचिद्देवा ब्रह्मवीर्य्याः क्षत्रवीर्य्याश्च केचन ।
तेषामपि प्रतिव्यक्ति लक्ष्यन्ते शक्तयोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अत एव मनुष्येषु भिन्नशक्तिप्रवेशत ।
मान्या महाशया लोका दृश्यन्तेऽन्यान्यवृत्तयः ॥ १२ ॥
ब्रह्मवीर्य्य-क्षत्रवीर्य्ये उभे यत्रातिमात्रया ।
आरम्भणे आत्मनः स्तः स महापुरुषो भवेत् ॥ १३ ॥
अग्निर्हि देवता. सर्वा भुवोऽन्तः सार्वदैविकः ।
अतिमात्रं तत्प्रवेशाद् ब्रह्माऽभूदतिमानुषः ॥ १४ ॥

इति ऐतिहासिकसृष्टि प्रकरणम् ।



अथ ऐतिहासिकसृष्टिविभागः ।



१—अथ ब्रह्मकृता वेदग्रन्थसृष्टिः ।

परीक्ष्य सूर्य्यं तु स देवविद्याः, स प्राणविद्याः प्रकटीचकार ।
एकं तु स ब्रह्म समस्तमूलं समीक्ष्य देवानवशानपश्यत् ॥ १ ॥

"को ददर्श प्रथमं* जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्" ॥

(ऋ० म० १।१६४।४)

मतानि सर्वाण्यभिवीक्ष्य सर्वा विद्या विदन् साध्ययुगानुभूताः ।
प्राणेषु भूतेभ्य इतोऽपि चित्ते सामर्थ्यभूयस्त्वमयं विजज्ञे ॥ २ ॥
श्रमाधिकत्वात्पुरुषाधिकत्वाद् बाह्यार्थसंभारबहूपयोगात् ।
भौते विधाने स समीक्ष्य कष्टं मनोविधाने स मनश्चकार ॥ ३ ॥
भूतानि सर्वाणि मनोऽर्पितानि प्राणे मनस्त्वर्पितमस्ति तस्मात् ।
प्राणेऽर्पितं सर्वमिदं स एवाराध्यस्ततः सर्वमिदं प्रसिद्ध्येत् ॥ ४ ॥
सूर्य्योऽस्ति हि प्राणघनो बहिर्घा प्राणोपपत्तिर्निखिलेषु सूर्य्यात् ।
अध्यात्ममप्यस्ति न एषसूर्य्यः सूर्याश्रितः प्राणघनः स साध्यः ॥ ५ ॥
यथाऽधिदैवं तपनस्य नाड्यां प्राणा इमे सन्ति तथात्मनोऽपि ।
नाड्यामिहाध्यात्ममिमे समस्ताः प्राणा भवन्तीति स तान् ददर्श ॥ ६ ॥
तदित्थमध्यात्ममथाधिभूतं तथाधिदैवं प्रतिपद्य सूर्य्यम् ।
प्राणांश्च सूर्य्योपगतान् परीक्ष्य ग्रन्थं व्यधात् तं खलु वेदमाहुः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा तु लोकत्रयमत्र विष्टांस्त्रीनग्निदेवान् परिवारदेवान् ।
सोमद्वयं ब्रह्म च मूलमेषां ग्रन्थं व्यधात् तं खलु वेदमाहुः ॥ ८ ॥
तावग्निसोमौ च परे च देवा लोकत्रये दिक्ष्वपि ये निविष्टाः ।
ब्रह्मैव तत्सर्वमभूदतस्तद्वेदं च तं ब्रह्मपदेन चष्टे ॥ ९ ॥

---

* प्रथममिति सृष्टे पूर्वमव्याकृतावस्थायाम् इत्यर्थ ।

धर्म्माः प्रजाः सर्वविधाश्च लोकाः सृष्टा यथा संप्रति ये यथावत् ।
यथा च पूर्वे मणिजा बभूवुरतथेतिहासानदभत् स वेदे ॥ १० ॥
सूर्य्ये यथा ये प्रचरन्ति देवास्तेषां जगत्यत्र यथाविकाशाः ।
ब्रह्मण्यमीषां च यथोपपत्तिर्विज्ञानमेतद्धचदभत् स वेदे ॥ ११ ॥
साध्यैर्यथा यज्ञविधिः प्रदृष्टो यथा च यज्ञैः प्रभवन्ति कामाः ।
यज्ञप्रभेदा विधयश्च तेषां ते ब्रह्मणा तत्र हि वेद उक्ताः ॥ १३ ॥
अपूर्वशिल्प-प्रतिरूपशिल्पप्रकारवलप्तिं बहुधा स कृत्वा ।
संक्षिप्य वेदे च निरूप्य देवान् विद्यासु शिल्पेष्वसुरान् न्ययुङ्क्त॥१४॥
इत्थं चतुर्लक्षमितं स वेदग्रन्थं चतुर्भिर्विषयैर्व्यधत्त ।
स ब्रह्मवेदं व्यदधादपश्यद् ब्रह्मेत्यतो ब्रह्मपदात् प्रसिद्धः ॥ १५ ॥

प्रचलितवेदग्रन्थस्यार्षेयत्वाद् ब्रह्मकृतवेदग्रन्थाद्भिन्नत्वम् ।

इत्थविभक्तार्थविभक्तखण्डं यं ब्रह्मवेदं व्यदधाद् विधाता ।
कालेन सोऽलुप्यत किन्तु पश्चादन्योऽभवद् वेदऋषिप्रदृष्टः ॥ १ ॥
प्राग् ब्रह्मवेदोपगतार्थविज्ञैर्देवर्षिभिः स्वस्वमनीषयाऽन्ये ।
अर्था अदृश्यन्त यदा यथा ये तथा प्रणीता बहवोऽत्र मन्त्राः ॥ २ ॥
' ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः ।
सुदेवो अद्य तद्विद्याद् यत्र निर्वपणं दधुः" ॥

(शत० ७।४।२)

श्लोकः श्रुतिः श्रूयत एतदर्थे व्याचष्ट चैतामृषियाज्ञवल्क्यः ।
वाचोदनैषुर्मनसस्तु देवा विद्यां त्रयीं निर्वपणं ततः सा ॥ ३ ॥
अनेकदेवर्षिकुलैः पृथग् ये मन्त्रा प्रणीता बहवः प्रकीर्णाः ।
तेषां कृता याज्ञिकहोत्रकार्थे याः संहिताः संप्रति ता अधीमः ॥ ४ ॥
* "यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।
तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके" ॥

(तै०-ब्रा० २।८।८)

∴ "युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय. ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा" ॥ (सायणभाष्यम्]
तै०-ब्रा० २।८।८

"अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्" ।

(ऐ० ब्रा० २९।१)

"प्रजापतिर्वै पित ऋभून् मर्त्यान् सतोऽमर्त्यान् कृत्वा तृतीयसवन आभजत्"

(ऐ० ब्रा० २८।४)

वेदशास्त्रप्रचारबाहुल्यात् साध्ययुगीयानां गाथाख्यानां श्लोकानां देवयुगे लुप्तप्रायता ।

देवेभ्य एभ्यस्तु पुरायुगेऽन्ये वैज्ञानिकाः श्लोकगणाश्च गाथा ।
साध्यैः प्रणीता अभवन् पृथक्स्थाः प्रायेण ते देवयुगे विलुप्ताः ॥ १ ॥

श्लोकाश्च गाथा अपि साध्यकालाः पृथक् पृथक् स्वस्वगृहस्थिताः प्राक् ।
आसन् विकीर्णास्त इमेऽद्य दैवयुगे विमर्दादभवन् विलुप्ता. ॥ २ ॥

तेषां तु केचिद् बहुधा जनश्रुतिश्रुताः प्रसिद्धा अभवन् पुरायुगे ।
श्लोकाः सगाथा इह तान् लभामहे वैकुण्ठदेवेन्द्रनिदेशतो धृतान् ॥ ३ ॥

प्रचलितवेदग्रन्थस्य स्वर्गस्थदेवेन्द्रसंगृहीतविल्मग्रन्थत्वम् ।

इन्द्रो धर्म्मो द्रुघनः सर्वहरिर्मुष्कवान् वरुर्नाम ।
स्वरुरथ वैकुण्ठोऽयं हरिवान् हरिवाहनोऽन्ये च ॥

भू-द्युस्थितानां चरितोपपादकं काव्यं कृतं यत् कृतिभिः स्वयं च यत् ।
स्वाराट् स तत् स्वर्गपतिः स्वजीवने समग्रहीत् तत्खलु राजविल्मकम् ॥१॥

सामायिकं वा चरितं ज्ञानं वा दृष्टमन्यतो वाप्तम् ।
सर्वं राजनियत्या संगृह्य धृतं तदिन्द्रेण ॥ २ ॥

वैकुण्ठस्वाराज्ये यद् वृत्तं किञ्चिदुपपन्नम् ।
यत्रेन्द्रस्य कथञ्चित् सम्बन्धः साङ्ग्रहोऽस्ति तस्यायम् ॥ ३ ॥

ऋग्वेदसंहिता सा ग्रन्थोऽयं स्वर्गराज सम्बन्धी ।
जीवनचरित्र संग्रह रूपो विज्ञान संपन्नः ॥ ४ ॥

आद्यस्तु धर्मो हरिवांश्चतुर्द्दशः स्वरुस्तु वैकुण्ठपिता स मध्यमः ।
अनौरसौऽपीन्द्रपदेऽधिरूढवान् यो वासवो यो नहुषः स भामते ॥ ५ ॥

चतुर्द्दशैवेन्द्रपदेऽधिरूढा धर्म्मादय. प्रागभवन् स्वराजः ।
तेषां यदैन्द्रे तु पदेऽधिरूढो वैकुण्ठ आसीत् परमः स कालः ॥ ६ ॥

ये चोपलभ्यन्त इमेऽद्य वेदग्रन्था य एतेषु च वेदमन्त्राः ।
भूयांस एषामृषिभिः प्रणीता वैकुण्ठनाम्नः समये ह्यभूवन् ॥ ७ ॥

यस्याधिदैवं सह चाधिभूतं चाध्यात्ममर्थावगतिः समानी ।
प्रायेण चेत्तर्हि स मन्त्रवर्गेऽधीतस्तु वैकुण्ठनिदेशतोऽभूत् ॥ ८ ॥
नानर्षिधी संग्रहणं यथार्थैर्निरूपितैरिन्द्र निवेदनं च ।
इन्द्रेण तत् स्वीकरणं च सोऽष्टादंष्ट्रो हि वैरूप इहान्वबोचत् ॥ ९ ॥
"मनीषिणः प्रभरध्वं मनीषां यथा यथा मतयः सन्ति नृणाम् ।
इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः ॥"
(ऋ० म० १०।१११।१)
"इन्द्रः किल श्रुत्या अस्यवेद स हि जिष्णुः पथिकृत् सूर्य्याय ।
आत्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद् गोःपतिर्दिव सनजा अप्रतीत. ॥"
(ऋ० म० १०।१११।३)
महर्षिभिर्धन्यतमैः प्रणीते ब्रह्मप्रकाण्डे सहयोगमिन्द्रः ।
अस्मत्कृतब्रह्मण एष कुर्य्यात् तदर्थमभ्यर्थयते वसिष्ठः ॥ १० ॥
"ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ! ब्रह्माणि* जनयन्त विप्राः ।
अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥"
(ऋ० म० ७ अ० २ सू० २३)
परस्परं ब्रह्मकृतो मनीषिणः प्रेम प्रकुर्वन्ति परस्परं स्तुतिम् ।
कुर्वन्त आसन् सहयोगिनस्तथा स्तुत्यं विदुर्ब्रह्म कृदिन्द्रमप्यमी ॥ ११ ॥
"नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्योनमः साकं निषेभ्यः युञ्जे वाचं शतपदीम् ।
युञ्जे वाचं शत पदीं गाये सहस्रवर्तनि गायत्रं त्रैष्टुभंजगत् "॥
(सामस०उत्त० ६।२।७)
"गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विश्वा रूपाणि संभृता दिवा ओकांसि चक्रिरे ।
इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥"
(साम स० उत्त० ६।२।७)
सत्यां स्तुतिं कुर्वत इच्छतेऽर्थं ददाति कामानपि तुष्ट इन्द्रः ।
वसिष्ठ इन्द्राय ततः स्वकामं कदाचिदावेदयते परोक्षम् ॥ १२ ॥
धेनु न+ त्वा सूयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वशिष्ठः ।
त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा त इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ ॥
(ऋ० म० ७, अ० २, सू० १८)

* ब्रह्माणि=स्तोत्राणि + अत्र नकार इवार्थीयः

द्युव्याप्त सूर्यस्थितदेववर्णनं, दिवः पृथिव्यां प्रतिमानकल्पनम् ।
यज्ञप्रतानोऽसुरघात इन्द्रतो महत्त्वमैन्द्रं त्विति वेदसंग्रहः ॥ १३ ॥
*
"इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वावेद सवना हन्ति शुष्णम् ।
महींचिद् द्यामातनोत् सूर्य्येण चास्कम्भ चित् कम्भनेन स्कभीयान्" ॥
(ऋ० १०।८।१११)

विशिष्य वैकुण्ठसुरेन्द्रकालेतिहास एवोल्लिखितो बभूव ।
तात्कालिकाचारविचारसंस्थादिलोकवृत्तं च समाजसिद्धम् ॥ १४ ॥

कद्रू-सुपर्णादिपुराणवार्तानुरोधिमन्त्रा अपि तत्र दृष्टा ।
विज्ञानचर्चा बहुधा तदासीदतस्तदुल्लेख इहास्ति भूयान् ॥ १५ ॥

ये साध्यकालादभवन् प्रवृत्ता यज्ञा अनेकान् विषयांश्च तेषाम् ।
आश्रित्य मन्त्रा अभवन् प्रणीतास्तथा प्रकीर्णानपि कांश्चिदर्थान् ॥१६॥

जगद्विधाने नियमा यथाविधा यथाजगच्चक्रमिदं प्रवर्त्तते ।
कात्स्न्येन तेषामपि वैकदेशतो बोधं न विज्ञानपदेन चक्षते ॥ १७ ॥

प्रवर्तते यैर्नियमैरिदं जगत् तानेव चाश्रित्य नरैः सुबुद्धिभिः ।
कृता प्रयोगा अपि कामसिद्धये भवन्ति तान् यज्ञपदेन चक्षते ॥१८॥

मन्त्रविषयोल्लेखः ।

देवेन्द्रसम्बन्धिप्रचलितवेदग्रन्थे तात्कालिकेतिवृत्त-विज्ञान-यज्ञ-स्तुतिभेदाद् विषय—चातुर्विध्यम् ।

यावन्त एव त्विह सन्ति लोके चारित्र्यसम्बन्धिनिबन्धलेखाः ।
तेभ्योऽयमुत्कर्ष इहास्ति वेदे विज्ञानयज्ञौ सहलोकवृत्तौ ॥ १ ॥

अध्यात्मविज्ञानमथादिदैवं विज्ञानमेवं त्रिदिवेतिवृत्तम् ।
यो याज्ञिकोऽर्थस्त इमे विशुद्धा क्व च क्व च श्लिष्टतया च मन्त्रे ॥ २ ॥

* द्युलोकस्य पृथिव्याश्च प्रतिमान महत्वेन प्रतिनिधिरिन्द्र सर्वाणि सवनानि जानाति । शुष्णमेतन्नामकमसुर हन्ति । अपि च महीचित् महतीमपि द्या सूर्येण आतनोत्, सर्वत्र प्रकाशयुक्तामकरोदित्यर्थः । स्कभयितृणा मध्ये श्रेष्ठो निरोधनसाधनेन द्युलोकमवरुद्धमकरोत्—इति सामगसमतो मन्त्रार्थः ।

इन्द्रजीवनचरितमिन्द्रानुव्रत्यपव्रतिचरितमित्यादीनि तात्कालिकेतिवृत्तानि ।

×

ऋक् संहितान्त्यभागे सूक्तद्वयमैन्द्रमाम्नातम् ।
वैकुण्ठेन्द्रस्तस्मिन् जीवनचरितं स्वमादिशत् सर्वम् ॥ १ ॥
कक्षीवानृषि रौशिक्पुत्रो यो दैर्घतमस आसीत् प्राक् ।

*

नासत्य-दस्रयोः स हि जीवनचरितं प्रदर्शयामास ॥ २ ॥
"आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत् ।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि " ॥

(ऋ० मं० ७।२।१८)

पश्चापगालक्षितपञ्चराष्ट्राधीशेष्वजाद्यास्त्रय आपयन्ति ।
पुंशीर्षवाह्यान् हयपृष्ठवाह्यान् करान् महेन्द्राय करप्रदास्ते ॥ ३ ॥
करप्रदावप्यपरावभूतां करप्रदानात् कृपयाऽपवृक्तौ ।
इन्द्राङ्गरक्षाविनियुक्तिहेतोस्ताभ्यां किमप्यन्तरमस्य नासीत् ॥ ४ ॥
पर्शूषनामा नृपतिस्तिरिन्दिरः प्राग् यादवानां जगृहे विजित्य यत् ।
सर्वस्ववित्तं तत आर्पयत् पुरा वत्साय काण्वाय शतं सहस्रकम् ॥ ५ ॥
ददौ च पज्राय ततः स वैरिणे राज्ञे बलिष्ठाय च सामहेतवे ।
अश्वत्रिशत्या सह चायुतं गवां ता. स्वर्णमुद्रा वृषधेनवोऽपि वा ॥ ६ ॥
चतुर्भिरुष्ट्रान् सह हैमभारैश्चतुर्मनुष्यानथ वोपहारम् ।
तं यादवं दासकृतं च दत्वा दिवस्पतेरेष दिवं जगाम ॥ ७ ॥
"शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे राधांसि याद्वानाम्"

(ऋ० म० ८ अ० २ सू० ६)

"त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् । ददुष्पज्राय साम्ने " ॥

(ऋ० म० ८, अ० २, सू० ६)

उदानट् ककुहो दिवमुष्ट्रान् चतुर्युजो ददत् । श्रवसा याद्वं जनम्" ॥

(ऋ० म० ८, अ०२, सू० ६)

× ऋक् संहिता म० १०, अ० ४. सू० ४८–४९

* ऋ० सं० म० १, अ० १७ सू० ११६–११७ द्रष्टव्यम् ।

क्लृप्तं न विज्ञानमिहास्ति मन्त्रे संभाव्यते कोऽपि न याज्ञिकोऽर्थः।
यथेन्द्रराज्ये लघुराजभेदा आसन्नियुक्तास्तदिहोपदिष्टम् ॥ ८ ॥

-:-
"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥"
(ऋ० म० १, अ० १७, सू० ११६)

*
ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥"
(ऋ० म० १, अ० १७, सू० ११७)

पुराऽसुरा अत्रिमृबीससंज्ञके निगृह्य पीडानिलये तमोमये।
अवाङ्मुखं सर्वगणं तुषाग्निना बबाधिरे तर्हि तमग्निमश्विनौ ॥ ९ ॥

द्रागम्भसाऽशीशमतामृबीसतः कृत्वा बहिर्धाऽऽनयतां तदाश्रमम्।
अन्नं बलाधायि विधाय चात्रये मायाश्च दस्योरखिला अविध्यताम् ॥ १० ॥

यज्ञस्वरूपं यज्ञसाधनं यज्ञफलमित्यादयो यज्ञविषयाः।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥
(ऋ० म० ४, अ० ५, सू० ५८)

-:- हे अश्विनौ! हिमेन 'हिमसमशीतोदकेन घ्रंस दीप्यमानमग्निम्. अत्रेर्बाधनार्थमसुरैः प्रक्षिप्त तुषाग्निमित्यर्थः। अवारयेथा युवा निवारितवन्तौ। अपि चास्मै अत्रये पितुमतीमूर्ज बलप्रदमन्न क्षीरादिक वा अधत्त पुष्ट्यर्थं प्रायच्छतम्, ऋबीसे तमोमये कारागारेऽवनीतमवाङ्मुखमत्रि सर्वगण सर्वगणसमेतमित्यर्थ, स्वस्ति सुखपूर्वकमुन्निन्यथु। तस्मय्य युवा स्वगृह प्रापितवन्तौ–इति भाव.।

* उपर्युक्तमन्त्रार्थ एवात्र प्रकारान्तरेण व्याख्यात.। अक्षरार्थस्तु यथा वृषणा, कामाना वर्षितारौ हे नरावश्विनौ! पाञ्चजन्य, निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णा पञ्चजनास्तेषु भव स्वर्भानुना गृहीतमम सूर्य मोचयन्नत्रिः सर्वेषां हिताचरणात् तत्र भव इत्युच्यते। एतादृशमृषिमहस. पापरूपाद् ऋबीसात् कारागारात गणेन सह मुञ्चथ.–अमोचयतम्। किंकुर्वन्तौ मिनन्ता शत्रून् हिंसन्तौ दस्यो अशिवस्य सम्बन्धिनी मायाश्चानुपूर्वं चोदयन्ता, आनुपूर्व्येण निवारयन्तौ–इति सायणः।

+
शृङ्गाणि वेदाः, सवनानि पादाः प्रवर्ग्य-ब्रह्मौदनयोः शिरस्त्वम् ।
छन्दांसि हस्ता अथ मन्त्र-कल्प-स्वब्राह्मणैर्बद्ध इहास्ति यज्ञः ' ॥ १ ॥

आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेत्येवं विभक्ता ज्ञातव्यविषया विज्ञानानि ।

"मनसा संकल्पयति यत् तद्वातमभिगच्छति ।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥"
(शत० ३।४।२।७)

मनोवशात् प्राणगतिर्बहिः स्यात् सदाहतेर्वातविकारचारः ।
बहिस्तनोर्वातगतिं तु दृष्ट्वा देवा मनुष्यस्य मनो विदन्ति ॥ १ ॥

÷
"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन् सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते" ॥
(ऋ० म० १। अ० २२। सू० १६४)

या दक्षिणस्यां दिशि धूममार्गेणापः समुद्राद् दिवमुत्पतन्ति ।
सप्तार्धगर्भाः प्रपतन्ति पृथ्व्यामावर्तने ह्युत्तरतो रवेस्ताः ॥ २ ॥

×
"प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश" ॥
(ऋ० ६।७।८)

+ अत्र श्लोकप्रतिपादितो मन्त्रार्थः सायणसमतः, यास्कस्त्वन्यथैवार्थं मनुते । तद्यथा—अस्यादित्यस्य चत्वारि शृङ्गाणि, चतस्रो दिशः, एताः श्रयणार्हत्वाच्छृङ्गाणीत्युपचर्यन्ते । त्रयोऽस्य पादास्त्रयो वेदाः सूर्यपक्षे पादस्थानीया भवन्ति गमनसाधनत्वात् । द्वे शीर्षे—अहश्च रात्रिश्चेति द्वे शिरसी । सप्तरश्मयोऽस्य सप्त हस्ताः । त्रिधाबद्धो ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्यैस्त्रिभिस्त्रेधा बद्धो वा वृषभो वर्षिता रोरवीति शब्दं करोति एष महान् देवो मर्त्यान् आविवेश ।

÷ कृष्णवर्णं नियमेन गच्छन्त सेव्यं हरयो (जलस्य) हर्त्तारो रश्मयोऽद्भिर्मेघान् पूरयन्तो दिवमुद्दिश्योर्ध्वं गच्छन्ति । ते रश्मय उदकस्थानादादित्यमण्डलर्वाच्च आगच्छन्ति, अनन्तरमेव यदा अर्वागागच्छन्ति तदानीमेवोदकेन पृथ्वी क्लिद्यते—इति सरलार्थः ।

× अत्र वाजसनेयिनोऽप्येवमामनन्ति—"स तपोऽतप्यत, स प्रजा असृजत, ता अस्य प्रजा. सृष्टाः परा-

वाग्-वायु-तेजांस्यगमन् समन्तादापः पृथिव्योऽग्निमुपेत्य तस्थुः ।
सूर्य्याग्निरन्तःस्थित एति बाह्यान् सोमोन्तदिक्स्थः पततीह नाभौ ॥ ३ ॥
आरण्यकेऽन्यार्थमिहैतरेयोऽन्यार्थं पुनः पश्यति याज्ञवल्क्यः ।
विज्ञानमाहात्म्यमिदं तु भूयानर्थोऽस्य मन्त्रस्य यतो विभाति ॥ ४ ॥

यज्ञ—विज्ञानयोः समुच्चयः ।

"अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
*
तं जानन्नग्न आसीदाथा नो वर्द्धया गिरः ॥"
(ऋ० म० ३। अ० २। सू० २६)

+
"यत्ते सोम दिविज्योतिर्यत् पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ।
तेनास्मै यजमानायोरुराये कृध्यधिदात्रे वोचः", ॥
विज्ञानमेवंविधमस्त्यनेकं यज्ञानुगं मर्त्यविधेययज्ञे ।
अग्न्यादिवैज्ञानिकदेवधर्म्मा यज्ञं प्रपुष्यन्ति निरूप्यमाणाः ॥ १ ॥

लोकवृत्त-विज्ञानयोः समुच्चयः ।

ऋक्संहितायामधिदैवमुक्ता विज्ञानतः सूर्य्यगता यथार्थाः ।
तथाधिभूतं पृथिवीस्थजीवान् प्रायेण विद्यादितिहासतश्च ॥ १ ॥

बभूवु तानीमानि वयासीत्युपक्रम्य प्रजाह तिस्रो, अत्यायमीयुरिति या अमू प्रजा अत्यायन्, न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे इति अतिर्वा अर्कस्तमिमाः प्रजा अभितो निविष्टास्ता इमा, पराभूताः, बृहद्धतस्थौ भुवनेष्वन्तररिति प्रजापतिमेवैतदभ्यनूक्त, पवमानो हरित आविवेश इति दिशो वै हरित स्ता अथ पवमान आविष्ट इति ।

* आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम् (यजु स० अ० ३। म० १४। तथा अ० १२ म० ५२) इति यजुःपाठः ।

\+ यज्ञपक्षे—हे सोम ! लोकत्रये, यत्त्वदीय सोमज्योतिरस्ति, तेनास्मै यजमानाय धनेन विस्तीर्णं स्थान कुरु, किञ्च फलप्रदायेन्द्राय ब्रूहि—यदधिकोऽय यजमानो भवत्विति ।
विज्ञानपक्षे शातपथी श्रुतिर्यथा—यत्र वा एषोऽग्रे देवाना हविर्बभूव तद्धैतांचक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानां हविर्बभूवमिति । स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त । (श० ब्रा० ३।६।४)

भूतानि पृथ्व्यामिह यद्वदर्था देवा इमे सूर्य्यगतास्तथार्थाः ।
व्याप्तं तु तैः स्थावरजङ्गमं स्यात् समानमेभिः प्रचितोऽर्थवर्गः ॥ २ ॥

भूतेषु देवाः सह सन्निविष्टाः कर्म्माणि कुर्वन्ति यथा यथैते ।
तथोपदेशान् प्रवदन्ति मन्त्रान् ये चेतिहासा इह तेऽनुषङ्गात् ॥ ३ ॥

*

"ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु॥"

(यजु० अ० १७, म० १४)

वैज्ञानिकाः प्राणमया हि देवाः सूर्य्याग्नितोऽन्तः पुरतश्चरन्तः ।
मनुष्यदेवेष्वधिदेवभूतास्ते प्राणभृत्सु प्रथिता ध्रियन्ते ॥ ४ ॥

प्राणेषु देवत्वमिदं निरूढं किन्त्वीदृशं प्राणचयातिरेकात् ।
यज्ञार्जितात् केऽपि नराः पुरात्वे देवाः प्रसिद्धा इति लोकवृत्तम् ॥ ५ ॥

यज्ञ-लोकवृत्तयोः समुच्चयः ।

+
"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

(यजुः स० अ० ३१ म० १६)

लोकवृत्त-विज्ञान-यज्ञानां समुच्चयः ।

"पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥"

(यजुः स० अ० १७ म० ६७)

---

* अत्र विज्ञान पक्षे ब्रह्मशब्दतोऽग्निर्ग्राह्य. यथा च श्रुति.-अग्निर्वै ब्रह्म,तस्यैते पुर एतारः। इति(श.ब्रा.६।३।१५)

+ देवा. प्रजापतिप्राणरूपा', यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सकल्पेन यज्ञेन, यज्ञं यज्ञस्वरूप प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्त । तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि भूतानि आसन् ।

यत्र जाले पूर्वे साध्या. पुरातनदेवा सन्ति तिष्ठन्ति, त नाक ह तमेव स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मान. सचन्ते प्राप्नुवन्ति इति लोकवृत्तपक्षे महीधर. ।

विधेययज्ञे खलु गार्हपत्यादाग्नीध्रमेत्याहवनीयमेति ।
वाजिश्रुतौ वै नवमद्वितीयाध्याये तथाऽवोचत याज्ञवल्क्यः ॥ १ ॥

भौमत्रिलोक्यामपि पूर्वकालेऽवाग्भारतीया हिमशैलमेत्य ।
प्राग्मेरुतोऽप्युत्तरनाकदेशं गत्वा ततो यात्यमरावतीं स्त्रः ॥ २ ॥
उत्क्रान्त आत्मा यदि देवयानादूर्ध्वं चरत्यग्नित एति वायुम् ।
आदित्यमागत्य ततः स विद्युत्सहायवान् ब्रह्मपथेन याति ॥ ३ ॥
इत्थं विचित्रा इह सन्ति मन्त्रा वैज्ञानिका वैव च याज्ञिका वा ।
भूतानुगा ह्यर्थपरा अपीमे अर्थाश्रिताः केऽपि त ऊहनीयाः ॥ ४ ॥

ब्रह्म-विद्या-वेदशब्दानामैकार्थ्यं चानैकार्थ्यं च ।

शब्दास्त्रयो यद्यपि वेदविद्याब्रह्मेत्यमी ज्ञानपरास्तथापि ।
प्रवृत्तिहेतुर्भवति व्यपेक्षाभेदस्त्रयाणां पृथगेव तेषाम् ॥ १ ॥
शब्दश्रुतौ ज्ञानमुदेति तच्च ज्ञानं विभागैस्त्रिभिरेति रूपम् ।
वाग् भात्यतो वस्तु च भाति भात्या भानं सहानुव्यवसायतस्तत् ॥ २ ॥
सम्बन्ध औत्पत्तिक एव वागर्थयोरयं तेन तयोरभेदः ।
अभातमानेन न वस्तु भायात् तद्वस्तुभानं खलु भानभानम् ॥ ३ ॥
ऐकात्म्यमित्थं भवति त्रयाणां भेदेऽपि तज्ज्ञानमभेदमाहुः ।
शब्दास्त्रयस्तेन भवन्ति तत्र ज्ञाने प्रवृत्ता अविशेषतस्ते ॥ ४ ॥
ब्रह्मेति शब्दस्त्विह वस्तुसत्तापेक्षोऽथ विद्येति तु भात्यपेक्षः ।
संस्कारसापेक्षतयाऽप्ययं स्यात् स वेदशब्दस्त्विह वागपेक्षः ॥ ५ ॥
इत्थं निमित्तप्रतिपत्तिभेदेऽप्येकं हि तज्ज्ञानमिदं त्रिभिस्तैः ।
शब्दैर्यतो लक्ष्यत आहुरेतानेकार्थकानेव ततः प्रवीणाः ॥ ६ ॥
यद् ऋग् यजुः साम च यत् त्रयस्ते वेदास्त्रयं ब्रह्म तदेव तद्वत् ।
विद्यात्रयी सा तदिति त्रिधा स्युर्वागर्थसंस्कारविभक्तिभेदात् ॥ ७ ॥
यत् किञ्च पश्यामि यदस्ति किञ्चित् सर्वं तदृक्-साम-यजुःस्वरूपम् ।
ततो नु विद्यैव च वेद एव ब्रह्मैव सर्वं जगदित्यवेयात् ॥ ८ ॥

÷ हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरुपर्वतः। रोहितो माल्यवांश्चैव सूर्यकान्तिश्च पर्वता.। (हेमाद्रिव्रत २३,अ०)

ऋक्-सामयोर्यद्यजुषश्च रूपं तद्ब्रह्मविज्ञान इहैव पश्चात् ।
शुक्लत्रिसत्ये विशदं निरुक्तं वेदस्वरूपं च ततः प्रविद्यात् ॥ ६ ॥

वेदस्य शास्त्ररूपतया विद्यात्वादपौरुषेयत्वं नित्यत्वं च ।

ब्रह्मास्ति वेदोऽखिलमेव विश्वं ब्रह्मास्ति विश्वं हि न पौरुषेयम् ।
यत् पौरुषेयं नु घटादि तत्र ब्रह्मर्ग् यजुः साम न पौरुषेयम् ॥ १ ॥
वेदाश्च विद्या इह नित्यसिद्धा दृश्यन्त एता न च ताः क्रियन्ते ।
शास्त्रं हि तन्नित्यमपौरुषेयं ग्रन्थास्तु शास्त्रार्थविचारवाचः ॥ २ ॥
ग्रन्था यथा व्याकरणे हि पूर्वैः कृताः सहस्राण्यपरैः क्रियन्ते ।
शास्त्रं तु तद् व्याकरणं विचाराद् दृष्टं तदेकं तदपौरुषेयम् ॥ ३ ॥

अमृत-मर्त्यभेदेन वाचो द्वैविध्यादमृतवाङ्मयस्य वेदस्याप्यपौरुषेयत्वं नित्यत्वं च ।

यो वेदशब्दः खलु वागपेक्षः प्रोक्तो द्विधा तं पुनरत्र विद्यात् ।
अस्ति द्विधा वागिति वाङ्मयत्वादपौरुषेय स सपौरुषेयः ॥ १ ॥
सूर्य्यादिपिण्डानुगतानि यावन्त्येतानि ऋक्-साम-यजूंषि सन्ति ।
यद्वेदशब्देभ्य इदं समस्तं जज्ञे जगत् सोऽयमपौरुषेयः ॥ २ ॥
योऽपौरुषेयो स हि वेद एवेश्वरोऽथवा निःश्वसितं तदस्य ।
भूतात्मकः सर्वजगन्मयोऽयं ब्रह्माऽथ खण्डात्मक एष तज्ज्ञः ॥ ३ ॥

वाचां ग्रन्थस्य पुरुषप्रयत्नसाध्यत्वादनित्यत्वं पौरुषेयत्वं च ।

मीमांसकः प्राक्कुवरस्तु वेदग्रन्थश्चतुःसंहितमेतमेव ।
अपौरुषेयं निजगाद मन्ये स प्रौढिवादोऽस्य च साहसं तत् ॥ १ ॥
पद्यं च गद्यं च यदस्ति गेयं प्रयत्नसाध्यं पुरुषस्य तत् स्यात् ।
घटादिवत्तेन तदस्त्यनित्यं स पौरुषेयो हि निबन्धवेदः ॥ २ ॥
यदेव किञ्चित् पुरुषो मनुष्यो वैज्ञानिकीं वाचमुवाच दृष्ट्वा ।
ग्रन्थं विधत्ते स तदात्मभूतो जीवोक्तवेदोऽस्ति स पौरुषेय ॥ ३ ॥

मनुष्यब्रह्मणा प्रणीतस्य वेदग्रन्थस्यापि पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वाभ्यां व्यवस्था ।

यद्वा स नित्यं प्रतिपद्य वेदं ब्रह्मा मनुष्योपि चकार वेदम् ।
तस्यैष आत्मैव परो यथाऽभूदुद्बुद्ध एवं स उवाच वाचम् ॥ १ ॥

यदस्य विज्ञानमथास्य या वागात्मानुरूप्यात् तदुदेति सा च ।
या वैखरी वाग् नु तया सदृष्टं विज्ञानमाहैष निबन्धवेद ॥ २ ॥
ब्रह्मैष जीवो हि तदुक्तवेदग्रन्थोऽपि तन्निश्वसितं स वेदः ।
ब्रह्मैतदात्मैव तु वाङ्मयत्वाद् वाचा बहिर्भूय विभाति लोके ॥ ३ ॥
ब्रह्मैव चान्योऽप्यवरो मनुष्यो यं कं च बुद्ध्या व्यदधान्निबन्धम् ।
अपौरुषेयः सकल स वाजिश्रुतेः प्रतिज्ञात इति प्रतीमः ॥ ४ ॥
आत्मा द्विधास्तीश्वर-जीवभेदात् तत्रेश्वरोद्भूतमपौरुषेयम् ।
जीवप्रयत्ने सति पौरुषेयं चेत् संहितास्तर्हि तु पौरुषेयः ॥ ५ ॥

वाचो नित्यापौरुषेयत्वेऽपि तद्ग्रन्थस्य पौरुषेयत्वमनित्यत्वं च ।

त्रीण्यत्र वाक्-प्राण-मनांसि तत्त्वान्युक्तानि सिद्धान्तविदां निकाये ।
वाक् सर्वमित्यादिशदैतरेयः प्राणो मनोवाचि सदानुषक्ते ॥ १ ॥
सा वाग् द्विभेदाऽस्त्यमृता च मृत्युस्तत्रामृता देवकुलस्य योनिः ।
मृत्युस्तु भूतप्रचयप्रसूतिर्मृत्युर्द्विधा साऽस्त्यमृता च मृत्युः ॥ २ ॥
आकाशनाम्ना प्रथिता त्रिलोक्यां वायुश्च तेजोऽम्बु-मृदो यतः स्यु ।
आघाततो यत्र भवन्ति वीच्यो वाक् साऽमृता न श्रवणक्षणा सा ॥ ३ ॥
वीच्योऽमृतायामिह या प्लवन्ते ताः श्रोत्रमाघ्नन्त्यथ कम्पितस्य ।
*
श्रोत्रस्य धीर्वाचि समेत्य वर्णध्वन्यात्मवाचं सृजतीति मृत्यु. ॥ ४ ॥
१ २ ३
यथा क्रिया बुद्धिरियं च तद्वद् वाक् त्रिक्षणा भवति हि साऽक्षनित्या ।
सा यौगिकी योगविनाशनाश्या मृत्युं ततस्तां प्रवदामि वाचम् ॥ ५ ॥
वाचोऽमृतायाः प्रभवन्ति देवा भूतानि वै मृत्यवमृतोत्थितानि ।
यथा तथा सन्ति हि मृत्युवाचो वर्णात्मवाग्ग्रन्थमया निबन्धाः ॥ ६ ॥
ते देवसङ्घा अपि भूतसङ्घा अपौरुषेया ह्युदिताः प्रकृत्या ।
ग्रन्थास्तु वाचां पुरुषप्रयत्नापेक्षा अतस्ते खलु पौरुषेयाः ॥ ७ ॥

* हृदयादुत्थाय कर्णशष्कुलीमार्गेणानवरत बहिर्भवन् प्रज्ञासञ्ज्ञ श्रोत्रस्य श्रोत्रत्वसमर्पकः कश्चिन् प्राणरसोऽत्र धीशब्देन विवक्षित ।

" न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य. शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते" ॥ इति वाक्यपदीये भर्तृहरि ।

वैज्ञानिकवेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च ।

देवा प्रथन्ते वसवोऽथ रुद्रा अथादितेया इति हि त्रिवर्गाः ।
अग्निश्च वायुश्च रविश्च तेषां विभाजका स्युस्त्रय एव देवाः ॥ १ ॥
ऋगग्निक्लृप्ताऽथ च साम सौरं, यजुस्तु वायव्यमिति त्रयं सत् ।
समस्तविश्वोद्भवकृत् तमाहुर्वैज्ञानिकं वेदमपौरुषेयम् ॥ २ ॥
अग्नित्रयाद् देवकुलप्रसूतिः सोमात्तु भूतानि भवन्त्यमुष्मिन् ।
सोऽप्यग्निमेवाश्रयते ततस्तान्यपौरुषेयात् प्रभवन्ति वेदात् ॥ ३ ॥
'अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः" ॥
(ऋ० म० ५, अ० ४, सू० ४५)

अग्निर्यजुर्मुख्यतमः स वेदस्तमाश्रयेते अपि साम ऋक् च ।
आत्माग्निरस्यैव ,तनुः स सोमस्तद्भूतवर्गोऽयमपौरुषेय. ॥ ४ ॥
अग्नेश्च वायोश्च रवेश्च वेदा ऋचो यजूंष्यप्यथ सामभेदा. ।
सोमस्य चापां च तथा तुरीयोऽथर्वाङ्गिरावेद इति श्रुतं नः ॥ ५ ॥
याः सांप्रतं काश्चन वेदसंहिता दृश्यन्त एतासु निरूपिता इमे ।
अर्थाः समस्ता अपि दैवतादिकाः स्युर्ब्रह्मवेदानुमताः प्रपञ्चिताः ॥ ६ ॥
तदित्थमेते खलु वैदिकाऽर्था ये साम्प्रतं भान्ति स एक आसीत् ।
ब्रह्मैव तेषां प्रथमः प्रवक्ता द्रष्टोपदेष्टेति ममास्ति दृष्टिः ॥ ७ ॥

प्रकारान्तरेण पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविचारः ।

आध्यात्मिकवाचश्चतुःकत्वे प्रतिपन्ने प्रथमाया अपौरुषेयत्वमन्यासां पौरुषेयत्वं च ।

*
पराथ पश्यन्त्यथ मध्यमाथान्या वैखरीत्येवमिमाश्चतस्रः ।
स्युर्वाग्विधास्तत्र परास्ति नित्या तदुद्भवा सन्त्यपरा अनित्याः ॥ १ ॥

* एकैकनादात्मिका वाक् मूलाधारादुत्थिता सती "परा" इत्युच्यते । नादस्य सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सव हृदय नाकिये । मिती 'पश्यन्ती' इत्युच्यते । योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात् सैव बुद्धिं गता विवक्षा प्राप्ता "मध्यमा" इत्युच्यते, मध्ये हृदयाख्ये उदीयमानत्वान्मध्यमा । अथ यदा सैव मुखमागता ताल्वोष्ठादित्यापरिण बर्हिनिगच्छति तदा "वैखरी" इत्युच्यते ।

यद्वेत्ति यच्छोचति किञ्चिदात्मा वागेव तज्ज्ञानशरीरमस्ति ।
ज्ञानं हि वाचास्तिकयापि विद्धं वाचं परां तां विदुरत्र विश्वीम् ॥ २ ॥
स्थानानि वायुः करणानि वाचेन्न चालयेत् प्राण इहान्तरेकः ।
स्थानेषु योगं करणैर्विधत्ते लेखं मनः पश्यति सा द्वितीया ॥ ३ ॥
स्थानेषु वायुः करणैर्विधत्ते योगं बहिर्धा तत एति शब्दः ।
कर्णौ यतो मन्त्रयते सुगुप्तं सा मध्यमा वाक् स्वरभङ्गरूपा ॥ ४ ॥
यां वाचमुच्चैर्ब्रुवते समस्ता नराश्चतुष्पाद्विहगादयोऽद्धा ।
सा वैखरीत्येवमिमाश्चतुर्धा वाचः प्रदृष्टा इह जीवलोके ॥ ५ ॥

*
"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" ॥
(ऋ० म०१ अ० २२ सू० १६४)

आसां परास्तीयमपौरुषेयी त्रैलोक्यविश्वी पुरुषेऽपि नित्या ।
अन्यास्तु यत्नात् पुरुषस्य साध्यास्तिस्रस्ततस्ता इह पौरुषेय्यः ॥ ६ ॥
आत्मा धियाऽर्थान् कलयन् विवक्षया मनो नियुङ्क्तेऽग्निमिदं तु कायिकम् ।
आहन्ति नाभेस्तत उत्थितोऽनिलश्चरत्युरःकण्ठशिरःसु चाहतः ॥ ७ ॥
स्थानं मुखेऽसौ करणेन युङ्क्ते प्रवर्तयत्याहतवाचि वीचिम् ।
सा श्रोत्रमाहन्ति ततोऽक्षधीर्वाग्योगेन रूपं लभते स वर्णः ॥ ८ ॥
इच्छावशाद् वायुगतः प्रयत्नो यः पूरुषस्यासनि वा पुरीवा ।
वर्णात्मवीचिः श्रुतिमेत्य तस्माच्छाब्दी भवेद्धीरिति पौरुषेयी ॥ ९ ॥

+
वाक्यस्य तद्वद् रचनापि नूनं स्याद् बुद्धिपूर्वैव न तु स्वतः सा ।
तस्मान्निबन्धा अपि वाङ्मया ये भवेयुरेतेऽपि च पौरुषेयाः ॥ १० ॥

इति वेदसृष्टिः ।

---

* अत्र चत्वारीतिपद बहवो बहुधा वर्णयन्ति । तत्र सर्ववैदिकवाग्जालस्य सम्रहरूपा भूरादयस्तिस्रो व्याहृतय. प्रणवश्चैक इत्येके वैदिकाः । मन्त्र, कल्पो ब्राह्मण चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः । ऋक्-यजुः सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः (नि० १३।९ वैयाकरणास्तु नामाख्यातोपसर्गनिपात-भेदेन वर्णयन्ति । अपरे च मान्त्रिका. परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारि मन्यन्ते । मन्त्रस्यास्य विस्तृत व्याख्यान ग्रन्थकर्तृप्रणीते "पथ्यास्वस्ति" ग्रन्थे ।

+ "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इति वैशेषिकसूत्रम् ।

अथ प्रजासृष्टिः

सूर्य्यसंवत्सरस्याखिलसृष्टिप्रवर्तकसर्वविधप्राणजनकत्वम् ।

*
सूर्य्यो हि दैवं परमं जनित्रं संवत्सरे सर्वविधा हि देवाः ।
भूतातिरिक्तान् प्रतिभूतसक्तान् प्राणान् विदुर्देवपदेन देवाः ॥ १ ॥
अथैष सूर्य्यस्य मयूखमादौ त्रेधा विभक्तं निपुणं ददर्श ।
ज्योतिश्च गामायुरिमान् विभागान् पुनश्च सौक्ष्म्याद् विभजन्नपश्यत् ॥ २ ॥
ऋषीन् पितॄन् देवगणान् मनुष्यान् गन्धर्वकान् प्राणचयप्रभेदात् ।
ज्योतिर्विभागानिति पञ्च दृष्ट्वा पुनश्च सौक्ष्म्याद्विभजन्नपश्यत् ॥ ३ ॥

दशधा विभक्तानां ऋषिनिकायभेदानां चरसृष्टौ मौलिकधातुत्वम् ।

उत्पत्तिरर्थस्य यतोऽथ यत्र स्थितिर्गतिर्यत्र तदुक्थमुक्तम् ।
स प्राणवागेव मतं तदुक्थं प्राणेन वाक् सा विकृतार्थसृष्टिः ॥ १ ॥
उक्थं द्विधा स्यादमृतं च मृत्युस्तन्मौलिकं यौगिकमित्यवेयात् ।
यत् केवलं यत्र च नान्ययोगोऽमृतं तदेषां युतितस्तु मृत्युः ॥ २ ॥
"मानसाः-सृष्ट्यारूढा ऋषयः पितरस्तु योगरूढाःस्युः ।
अग्रे ससर्ज भगवान् मानसानात्मनः समान्" ॥

(ब्रह्म० पु० ६।६७)

अनन्ययोगप्रभवेऽमृतेऽर्थे यो मौलिकः प्राणऋषिं तमाहुः ।
ते वर्षयोऽनन्तविधा भवन्ति प्रायः श्रुता द्वादश सन्ति तेषाम् ॥ ३ ॥
भृग्वङ्गिरोऽगस्त्यमरीचयोऽत्रिः क्रतुश्च दक्षः पुलहः पुलस्त्यः ।
स विश्वकर्म्माऽथ वसिष्ठविश्वामित्रावमी सृष्टिविधौ समर्थाः ॥ ४ ॥
ऋषिभ्य एभ्यो विविधप्रयोगादन्यान्यरूपाः पितरो बभूवुः ।
ते यौगिकास्तैर्मिलितैस्तु भूयो देवासुराद्या विविधाः स्युरुक्थाः ॥ ५ ॥
देवासुराणां युतिभेदतोऽभवत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमात्मना ।
पित्राद्यशेषार्थविशेषसृष्टयोऽभवन् भविष्यन्ति भवन्ति चर्षितः ॥ ६ ॥

* "देवानां ह्येतत् परमं जनित्रं यत् सूर्यः" इति हि श्रुतिः ।

ये चर्षयो ये पितरोऽसुरा ये देवा इमाः प्राणविधाः समस्ताः ।
किन्त्वासु ये सन्ति न योगजास्ते प्राणा विशुद्धा ऋषिशब्दभाजः ॥ ७ ॥
ते द्वादशेहर्षय एव मौलिका अर्थास्तत सर्वमिदं बभूव ह ।
एकैकमेषां बहुधा परीक्षितुं दशैव क्लृप्ताः पृथगत्र पर्षद. ॥ ८ ॥
तासां कतिचित् स्वर्गे कतिचिद्धा भारते वर्षे ।
तास्वेकैको ब्रह्माऽनुशास्ति नानापरीक्षकान् विदुषः ॥ ९ ॥
अवरब्रह्मा स पृथक्कस्तत्पर्षदि य इष्यतेऽध्यक्षः ।
यमृषिं परीक्षते यस्तन्नामा तत्र स ब्रह्मा ॥ १० ॥

ऋष्यादिस्वरूपपरीक्षार्थां ब्रह्मपर्षद्भेदा अवरब्रह्मणां स्थानानि ।

बाह्लीके पुष्करके ब्रह्मावर्तेऽथ यावनप्रान्ते ।
पौलहखण्डे चैताः परिषद आसन् सरस्वतीकूले ॥ १ ॥
अन्यान्यदेशेऽपि च पर्षदोऽभवन् ब्रह्मप्रचाराय च धर्मगुप्तये ।
ब्रह्मा नियुक्तः प्रतिपर्षदेकको वेदे स धर्मे व्यनयज्जनान् गुरुः ॥ २ ॥
बाह्लीके भृगुपर्षत् साङ्गिरसी, पुष्करे त्वथर्वपरा ।
ब्रह्मावर्ते घोराङ्गिरसी, याम्ये तु साऽऽगस्ती ॥ ३ ॥
सिन्धुनदोपगसरितं सरस्वतीमनु सरस्वती नगरी ।
तस्यां प्रतिष्ठिताऽऽसीद् वासिष्ठी नाम परिषत् प्राक् ॥ ४ ॥
पुलह-पुलस्त्य-क्रत्वादीनां तु स्वर्गभूमिस्थाः ।
परिषद आसन् क्वचिदपि साऽत्रेरासीत् तु यावने देशे ॥ ५ ॥
भारतवर्षे पश्चादुपकूले देविकासरितः ।
या ब्रह्मपर्षदभवत् तस्यामुद्दालको ब्रह्मा ॥ ६ ॥
चेलकपौत्रो जीवलपुत्रो विद्वान् प्रवाहणो द्रष्टा ।
बबरपिता राजन्यो गतिमागतिमात्मनोऽपश्यत् ॥ ७ ॥
पञ्चालानां पर्षदि सोऽभूद् ब्रह्मा प्रवाहणोऽध्यक्षः ।
अपि पिप्पलादपर्षत् पञ्चनदे चैवमन्यान्या ॥ ८ ॥
अपास्य घोरौ जमदग्निदत्तौ बृहस्पतिर्गोतमकण्वपूर्वाः ।
प्रचेतसो नारदपर्वताद्याः पर्षत्स्वनन्ता ऋषयः परीक्ष्याः ॥ ९ ॥
ऋषयः प्राणा एते प्राणैरितरैरपृक्तरूपाः स्युः ।
द्वाभ्यां बहुभिर्वा तैरन्यान्यैरन्वयात् पितरः ॥ १० ॥

सप्तधा विभक्तानां पितृनिकायभेदानां क्षरसृष्टौ द्वितीयधातुत्वम् ।

सोमसदो बर्हिषदोऽप्यग्निष्वात्ता हविर्भुजस्त्वितरे ।
आज्यप-सोमपसहिताः सुकालिनश्चेति सप्तधा पितरः ॥ १ ॥
सोमसदः सोमेऽस्थुर्बर्हिषदोऽस्थुर्यमे शुष्के ।
अग्निष्वात्ता अग्नौ तस्थुरुद्गमध्यदक्षिणास्वेते ॥ २ ॥
सोमोऽत्रिमत्वात् पितृमान् स सोमसद् यमोऽङ्गि रस्वानिह बर्हिषन्मतः ।
भृगुः कविस्तद्रसवांस्तु कव्यवाडग्निस्तृतीयः पितृषूपपद्यते ॥ ३ ॥
सोमोऽत्रीणामग्निः पतिर्भृगूणां यमस्तथाऽङ्गिरसाम् ।
भूत्वा लेभे पितृतां सोमसदादिष्वमी गणिताः ॥ ४ ॥
अध्यात्मं तु महानयमात्मा चान्द्रः स चन्द्रमप्येति ।
सोमसदादय एतन्निहिता नान्दीमुखास्त्रयः ख्याताः ॥ ५ ॥
एते मुख्याः पितरश्चत्वारोऽन्ये ततोऽवरा. ख्याताः ।
वसवस्तेषां रुद्रा आदित्याश्चाधिपतयः स्युः ॥ ६ ॥
ते च हविष्मन्तोऽवाथ सुस्वधा वाऽथ काव्या वा ।
अपि च सुकाला इति वा ख्याताः संज्ञाभिरितराभिः ॥ ७ ॥
शुष्कं त्वन्नं हविरिति तद्भोक्तारो हविर्भुजः पितरः ।
सोमाज्यद्रवपानाद् द्विविधा अन्ये सुकालिनोऽनन्ताः ॥ ८ ॥
पूर्वे भुक्ता पितरस्त्रयस्त्रयोऽन्ये तु सन्ति भोक्तारः ।
ये तु सुकाला नैते भुज्यन्ते नापि भुञ्जते किञ्चित् ॥ ९ ॥
एते तु मध्यमा· स्युस्तेभ्योऽप्यवरा भवन्ति ये प्रेताः ।
अश्रुमुखाः प्रपितामहतस्ते नान्दीमुखाःस्युरुपरिष्टात् ॥ १० ॥
प्रेता इमेऽपि क्रमतो द्युलोक गच्छन्ति देवै· सह यन्ति सङ्गम् ।
इतः प्रदानं त इमे भजन्ते यज्ञात् तथा च श्रुतिषु श्रुतं नः ॥ ११ ॥

* ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा येऽमुं लोकं पितरः क्षियन्ति ।
यांश्च विद्म यो उ च न मघासु यज्ञं सुकृतं जुषन्ताम् " ॥

---

* ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्येदिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभि स्वराट् सुनीतिमेतां यथावश तन्व कल्पयस्व ॥ (ऋ० म० १०, अ०१, सू० १५म०१४)
एष ऋक्पाठ, ।

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु" ॥
(ऋ०म० १०, अ०१, सू० १५, म० १)

उक्तास्त्रयोऽन्ये पितरः श्रुतौ येऽवमास्त्वथर्वा अथ काव्यसंज्ञाः ।
तेषां च पूर्वप्रतिपादितेभ्यो नान्यत्वमस्तीति विशिष्य विद्यात् ॥ १२ ॥

पञ्चधा विभक्तानां देवनिकायभेदानां चरसृष्टौ तृतीयधातुत्वम् ।

लोकेशा असुरा वा तैर्य्यग्यौनाश्च देवयोनिश्च ।
पशवश्चेति विभागाद् देवगणाः पञ्चधा ख्याताः ॥ १ ॥

त्रेधा भिन्नस्याग्नेर्द्वैधा भिन्नस्य सोमस्य च लोकपालदेवत्वम् ।

अग्निं च वायुं च रविं च सोऽग्नीनाख्यापयत्तान् व्यभजत् पृथग्वत् ।
बृहस्पतिं विद्युतमाह सोमद्वयं द्विधा दैवतजातयः स्युः ॥ १ ॥
ज्योतिर्मया पञ्च तु लोकदेवा अग्नौ च वायौ च रवौ च भक्ताः ।
*
बृहस्पतिर्विद्युदिमौ च सोमौ ते लोकपाः पञ्च भवन्ति देवा ॥ २ ॥
वसूंश्च रुद्रान् सह रुद्रपुत्रानथादितेयान् भुवि चान्तरिक्षे ।
दिवि क्रमाल्लोकपतीनपश्यत् प्रजापतीन् ब्रह्म च यज्ञसंज्ञम् ॥ ३ ॥
बृहस्पतिर्वाच्यथ विद्युदप्सु प्राहुस्तु वाचोऽपि तदप्त्वमन्ये ।
भृग्वङ्गिरोमय्य इमाः किलापस्तासामपां दैवतमस्ति सोमः ॥ ४ ॥
यमोऽग्निरादित्य इति त्रयं यत् तदङ्गिरोरूपमिहाप्नुवानम् ।
आपश्च वायुश्च स चन्द्रमाश्चेत्याप्यायकं तद् भृगुरूपमस्ति ॥ ५ ॥
इत्थं प्रजाः पञ्चविधा निरूप्य ब्रह्मत्वमेष स्वयमाससाद ।
यज्ञस्तु विष्णुः प्रबभूव ताभ्यां प्रजापतिभ्यां विधृताः प्रजास्ताः ॥ ६ ॥

आवरक-संवरक-संकोचकादिप्राणविशेषाणां देवविरोधिनामसुरत्वम् ।

ज्ञानज्योतिर्यस्मात् प्राणात् समुदेति देव सः ।
बलमपि तमोऽपि यस्मात् प्राणादसुरः स देवविद्रोही ॥ १ ॥

---

* बृहस्पतिर्द्वेधा—वाचस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिश्च । तत्रेह ब्रह्मणस्पतिर्विवक्षितो ज्ञेय । विश्वेदेवा एतस्य गणदेवताः गोपथे व्याख्याता, ।

अज्योतिषां ज्योतिरपाकृतानां ज्योतिःप्रचारप्रतिबन्धकानाम् ।
तमोमयानामसुरत्वमाहुर्दिवोऽपि केचित्त्वसुरत्वमैच्छन् ॥ २ ॥

ये सैंहिकेया अथ कालिकेया मौर्य्यास्तथा कालकदौर्हृदाद्याः ।
नानाप्रभेदा असुरा अपीमे चन्द्रे च भूमौ च पृथक् पृथक् स्युः ॥ ३ ॥

गन्धर्वादयो देवयोनयो नागादयस्तिर्य्यग्योनयः ।

गन्धर्व–विद्याधर–यक्षरक्षः–पिशाच–सिद्धा मय गुह्यकाश्च ।
भूताः स्त्रियश्चाप्सरसोऽत्र क्लृप्तास्ते देवयोनीतिपदप्रसिद्धाः ॥ १ ॥

अष्टौ विशेषादिह सन्ति नागा अथाप्यनन्ता बहवः सुपर्णाः ।
दैवेऽनुषक्ताः प्रचये हि तैर्य्यग्योनाः पशुष्वश्वगवाव्यजाद्याः ॥ २ ॥

देवा असुराः पितरो गन्धर्वा मनुष्या इति पञ्चविधा अन्नस्या नभस्या वा संचारिदेवाः ।

अमी तु सूर्य्ये परिवारदेवा ज्योतिर्म्मया पञ्चविधाः पृथक् स्युः ।
चन्द्रे पृथिव्यामपि पञ्च देवाः संचारिसंज्ञा उदयन्ति गोजाः ॥ १ ॥

चन्द्रे प्रभायां पितरः प्रकाशा पृष्ठेऽसुराः सन्ति तमोमयास्ते ।
ज्योतिस्तमःसन्धिगता द्विसंस्था गन्धर्वसंज्ञा इति ते त्रयोऽस्मिन् ॥ २ ॥

पृथ्व्यां प्रभायामहनीह देवाः पृष्ठेऽसुराः सन्ति तमोमयास्ते ।
ज्योतिस्तमःसन्धिगता मनुष्या इत्थं पृथिव्यामपि ते त्रयोऽस्युः ॥ ३ ॥

चन्द्रे पृथिव्यामपि चासुरेषु प्रायः प्रभेदोऽस्ति न तामसेषु ।
धर्म्मा विभिन्ना इतरेषु तस्मात् पञ्चैव ताः संचरदेवताः स्युः ॥ ४ ॥

ऋषीन् पितॄन् देवगणानशेषान् संसृज्य यद्रूपमुदेति देहे ।
स पूरुषो मानुष एष आत्मा गन्धर्व उत्क्रान्त इतः शरीरात् ॥ ५ ॥

गवायुषोः प्रपञ्चस्येहानपेक्षितत्वादन्यत्रोपव्याख्यानम् ।

ज्योतिश्च गौरायुरितिप्रभेदात् त्रयो रसाः सूर्य्यकरे निरुक्ताः ।
तेषां त्रयाणां सविशेषमत्र ज्योतिःप्रपञ्चः परिदर्शितोऽयम् ॥ १ ॥

---

* अहर्देवानामासीद् रात्रिरसुराणाम् । तेऽसुरा यद्देवानां वित्तं वेद्यमासीत् तेन रात्रिं प्राविशन् ते देवा हीना अमन्यन्त (तै० सं०) "अहर्वै देवा अश्रयन्त, रात्रिमसुराः (ऐ० ब्रा०) इति च ।

गवां विभागा बहवस्तथायुषामन्यत्र चान्यत्र विशिष्य दर्शिताः ।
न लोकवृत्तप्रतिपादनक्रमे तेषामपेक्षास्ति ततो विरम्यते ॥ २ ॥

अधिदैवताध्यात्मसादृश्येनाधिभूतव्यवस्थाक्लृप्तिः ।

अध्यात्ममेतानधिदैवमेतान् देवान् प्रकृत्या निचितान् विलोक्य ।
तथाधिभूतं च समाजबन्धं स प्राणिवर्गेऽपि विधातुमैच्छत् ॥ १ ॥

ददर्श देवान् दिवि पञ्चभक्तांस्तान् लोकिनो लोकपतींश्च यद्वत् ।
तद्वत् पृथिव्यामपि कर्तुमैच्छत् समाजबन्धं स हि जीववर्गे ॥ २ ॥

साध्यादयस्तस्य मतं ग्रहीतुं समाजबन्धेऽपि च तेन क्लृप्ते ।
प्रवेष्टुमैच्छन् न यदा तदानीं ब्रह्मा व्यनैषीत् तुषितान् पुरस्तात् ॥ ३ ॥

स प्राक्तनं तन्मणिजानुक्लृप्तं समाजबन्धं शिथिलीचकार ।
कांश्चित् पुरस्तात् तुषितान् गृहीत्वा पितॄंश्च देवांश्च स तान् व्यधत्त ॥ ४ ॥

क्रमेण पूर्वांश्चतुरो विभागानुच्छिद्य पञ्च व्यदधाद् विभागान् ।
ऋषीन् पितॄन् देवकुलानि तिर्य्यग्योनींस्तथा दैवतयोनिभेदात् ॥ ५ ॥

द्युस्थेषु देवेषु यथाविधानास्ते प्राणदेवा हि यथा य आसन् ।
जैवे समाजेऽपि तथा पृथिव्यां मनुष्यदेवानपि तांस्तथाहुः ॥ ६ ॥

धर्म्मै ऋषीणामृषयोऽन्य आसन् धर्म्मैः पितॄणां पितरो बभूवुः ।
देवा अभूवन्नपि देवधर्म्मैस्तथेतरेऽपि द्विविधाः प्रजाताः ॥ ७ ॥

प्राणाः क्रमतः स्थूला भूत्वा ते पञ्चधा विभक्ता स्युः ।
ऋषयः पितरो देवास्तथा मनुष्याश्च गन्धर्वाः ॥ ८ ॥

मानससृष्ट्यारूढा ऋषयः पितरस्तु योगरूढाः स्युः ।
यौगिकरूढा देवाः पञ्चविधा युक्तयोगतो जाताः ॥ ९ ॥

ऋषि-पितृ-संप्रचिताभिर्दैवासुरदेवयोनीनाम् ।
तिर्य्यग्योनिपशूनां मात्राभिर्मानुषो भवेत् प्राणः ॥ १० ॥

मानुष एव प्राणः स्थूलशरीराद् बहिर्भवन् वायौ ।
धृतयातनाशरीरो गन्धर्वश्चन्द्रमण्डलादर्वाक् ॥ ११ ॥

यः प्राणोऽत्र मनुष्येऽधिकतरमाविशति तेन वैशेष्यात् ।
तन्नाम्नाऽसौ प्रथते ब्रह्मकृता सेयमनुसृष्टिः ॥ १२ ॥

प्राणविधर्षिद्रष्ट्रृणामपि प्राणसमानतया विद्वद्विशेषाणां महर्षित्वं भृग्वादित्व च ।

भृग्वङ्गिरोऽत्रि त्रिकुलं मरीचिम्तथा पुलस्त्य: पुलह· क्रतुश्च ।
प्रचेतसो नारद-पर्वतौ चेत्येवं यथाप्राणमहर्षयोऽस्थु: ॥ १ ॥
ऋषय: प्राणा दृष्टा यैस्ते द्रष्टार एकतानधिय: ।
ऋषिद्रष्ट्रृत्वाद् ऋषय: प्रथिता. प्राणैः समाननामान. ॥ २ ॥
प्राणानां प्राग् नाम क्लृप्तं यथा यन्नाम्ना तेनाभूत् प्रसिद्धोऽस्य विद्वान् ।
सर्वत्रैवं कुत्रचिद् द्रष्ट्रृनाम्ना दृष्टः प्राणोऽप्येष लेभे प्रसिद्धिम् ॥ ३ ॥
भृगुरङ्गिरा अथर्वा कश्यप इत्यादयोऽखिलाः कृतिनः ।
प्राणैः कृतनामान· शौनक-कौशिकमुखाम्तु भिन्नविधा· ॥ ४ ॥
ऋषिभिः कृतात्मभिस्तैर्विद्वद्भि प्राणशिक्षणार्था या ।
प्रत्यष्ठाप्यन्त पृथक् समितय एतास्तु पर्षद कथिता. ॥ ५ ॥
यस्यां ऋषिः पर्षदि यः परीक्षितुं क्लृप्तस्तदध्यक्षतया नियोजितः ।
द्रष्टाऽप्यभेदाद् ऋषिरेतदाख्यया ख्यातस्तथा गोत्रममुष्य च श्रुतम् ॥ ६ ॥
यस्यां भृगुप्राणविचित्रशक्तयोऽदृश्यन्त यस्यां भृगुणा प्रसाधिताः ।
अर्था अशेषा भृगुशब्द इष्यते तद्ब्रह्मणि द्रष्टरि तत्प्रचारके ॥ ७ ॥
भृग्वर्थद्रष्ट्रृत्वनिबन्धनोऽयं भृगुद्रष्टरि गौणदृष्टः ।
यद्वा प्रतिव्यक्तिसमं प्रयुक्तो गोत्रे भृगुस्तेन स जातिशब्दः ॥ ८ ॥
स भृगुप्राणद्रष्टा भृगुरुक्तोऽथास्य वंशजव्यक्तौ ।
भार्गव-भृगुशब्दौ स्तः साधारणास्तु भृगव एव स्युः ॥ ९ ॥

जन्मना विद्यया च वंशद्वैविध्याद् ऋषीणां भृग्वादीनां विद्यया वशधरत्वाद् ब्रह्म-पुत्रत्वव्यवहारः ।

वंशो द्विधा पूर्वयुगे प्रक्लृप्तः स जन्मनाऽन्योऽथ च विद्ययाऽन्यः ।
ब्रह्मा पुरा लोकगुरुः प्रसिद्धस्तस्यापि वंशो द्विविधः स आसीत् ॥ १ ॥
वंशक्रमो जन्मकृतोऽस्य योऽभूत् तेनैष लोकप्रगतिं पुपोष ।
वंशक्रमो योस्य तु विद्ययाऽऽसीत् तेनैष वेद प्रगतिं पुपोष ॥ २ ॥
या जन्मना वंशपरम्परासीत् साऽस्यौरसी सृष्टिरिति प्रविद्यात् ।
या विद्यया वंशपरम्पराऽभूत् सा मानसी सृष्टिरिति प्रसिद्धा ॥ ३ ॥
येऽस्यौरसा वशधराः पुराऽऽसंस्ते पुष्करे तज्जनिधाम्नि तस्थुः ।
ये मानसा वंशधरास्त आसन् ब्रह्माण एतत्पर्षिनियुक्ताः ॥ ४ ॥

ओंकारनामौरसपुत्र आसीज्ज्येष्ठोऽस्य कश्चित् प्रवणो प्रवीणः ।
ऐन्द्रे वसोर्धारपुरे स वीरोऽसुरान्निगृह्य प्रतिवाहमाप ॥ ५ ॥
येऽन्यौरसा एव तु केऽपि भृग्वादयः पुरा पुत्रतया गृहीताः ।
ते मानसा ब्रह्मसुताः प्रसिद्धा ब्रह्मण आसन् परिषत्प्रबर्हाः ॥ ६ ॥
मनीषिणः केचन ये विशेषात् प्राणानिमान् साध्वविदन् यथावत् ।
तत्प्राणनाम्नैव तु ते प्रसिद्धा बभूवुरेते पितरः पितॄणाम् ॥ ७ ॥

ऋषिभ्यो जातानां पितृनिकायभेदानां सप्तावान्तरभेदाः ।

सोमसदो बर्हिषदोऽप्यग्निष्वात्ता हविर्भुजस्त्वितरे ।
आज्यप-सोमपसहिताः सुकालिनश्चेति सप्तधा पितरः ॥ १ ॥
प्राणा दिवीत्थं पितरो निरुक्ताः साम्येन तेषामधिभूमि केचित् ।
नरा द्युलोके पितर" प्रसिद्धाः सप्तैव ते प्रेतगणा न तत्र ॥ २ ॥
नामानि तु प्राणगुणानुसारादन्वर्थमुक्तानि दिवि स्थितानाम् ।
अर्थैरयोगेऽपि तथैव नामान्येषां नृणामप्युदितानि भक्त्या ॥ ३ ॥
पितृलोके त्रिविभक्ते सोमसद उदक् सनातने लोके ।
वैभ्राजेऽग्निष्वात्ता याम्येऽन्येन्तस्तु सोमपथलोके ॥ ४ ॥
आद्या इत्थं त्रिविधाः पितरोऽन्ये ये चतुर्विधास्तेषाम् ।
मारीचस्तेजस्वी ज्योतिर्भासश्च मानसो लोकः ॥ ५ ॥

पितृभ्यो जातानामसुरनिकायभेदानां बहवोऽवान्तरभेदाः ।

ये सैंहिकेया अथ कालकेया मौर्यास्तथा कालकदौर्हृदाद्याः ।
मनुष्यजातावसुरप्रभेदा वीरा बलिष्ठा बहवो बभूवुः ॥ १ ॥

देवानां दशविधासु जघन्यजातिषु देवयोनिशब्दः ।

गन्धर्व-विद्याधर-यक्ष-रक्ष-पिशाच-सिद्धा-मय-गुह्यकाश्च ।
भूता. स्त्रियश्चाप्सरसस्त एते स्यु "र्वयोनीतिपदप्रसिद्धाः ॥ १ ॥
उत्सवसंकेताख्याः सप्त गणा भूतजातयः प्रोक्ताः ।
गुह्यकसन्निधिदेशा क्रौञ्चगिरिप्रान्तवासिनस्ते स्युः ॥ २ ॥
भूतेषु ये दैवतसैनिकास्ते गणा इतोऽन्येऽपगणाः स्वतन्त्रम् ।
गणेषु मुख्याः प्रथमादयः स्युर्यक्षास्त्विमे भैरववीरभद्राः ॥ ३ ॥

देवमनुष्ययोरन्तराभवसत्वविशेषाणां तिर्य्यग्योनित्वव्यवहारः ।

नागादितिर्य्यग्विधजीवयोनिप्राणा उपास्या अभवंस्तु तेषाम् ।
नागादिलक्ष्माण इमे पृथग्वद् विषादिविद्याः कतिचिद् बभूवुः ॥ १ ॥
त्रिधा च नागास्त्रिविधा सुपर्णा इमे तिरश्चः प्रथितास्तदात्वे ।
कालेन नागा अभवन् प्रवीरा राज्याधिकारानलभन्त लोके ॥ २ ॥

ऋषि-पितृनिरपेक्षं नरजातीनां पुनः प्रकारान्तरेण पञ्चकृष्टित्वव्यवस्था ।

इत्थं नरान् पूर्वमसौ विभज्यान्यथाऽपि तान् पञ्चविधानपश्यत् ।
तथा हि देवा असुरा मनुष्या इमेऽथ गन्धर्वकुलानि नागाः ॥ १ ॥
देवान् क्षितेरुत्तरमेरुपार्श्वे कुमेरुपार्श्वे त्वसुरानकार्षीत् ।
अग्नौ पितॄन् दक्षिणतो मनुष्यान् गन्धर्वकान्नैर्ऋतितोऽब्धिकूले ॥ २ ॥

देवादिपञ्चकृष्टीनां मनुष्यत्वाविशेषेऽपि तेषामेकस्मिन् विशेषे वैवस्वतमनुप्रजात्व-निबन्धनं पारिभाषिकं मनुर्ष्यत्वम् ।

पञ्च त्विमा कृष्टय आसु सौराः सौम्या इतीत्थं विविधा मनुष्या ।
वैवस्वता सौरकुला अथासन्नैलेयसंज्ञा अपरे तु सौम्याः ॥ १ ॥
ऐलेयसंज्ञानपि पञ्च पश्चाद्भिन्नप्रभेदाद् व्यभजंस्तु देवाः ।
ते पूरवस्तुर्वसवोऽनवोऽन्ये द्रुह्यवोऽन्ये यदवो बभूवुः ॥ २ ॥
ऐलेयकाः पञ्चजना मनुष्या इति प्रसिद्धा अभवन् पुरात्वे ।
वैवस्वताः सौरकुलास्तु देवाः पुरायुगे ख्यातिमगुर्मनुष्याः ॥ ३ ॥
यद्यपि मनुसन्तानो मनुष्य उक्तः स्वयंभुवस्तु मनोः ।
संतानत्वाद्देवा असुरा अपि ते मनुष्याः स्युः ॥ ४ ॥
किन्त्वत्र पञ्चकृष्टिसु मनुष्य उक्तो मनुष्यलोकस्थः ।
धर्म्मविशेषगृहीतो वैवस्वतमनुविशेषसन्तानः ॥ ५ ॥
श्रद्धादेवः कश्चिद्देवेष्वासीद्विवस्वतः पुत्रः
ब्रह्मा तस्य मनुत्वं तस्य विशां च व्यधान्मनुष्यत्वम् ॥ ६ ॥
त्रैलोक्यकल्पनायामिरावतीनिर्गमादधोदेशम् ।
पृथ्वीं प्रकल्प्य तत्र न्यवासयत् तान् मनुष्यान् सः ॥ ७ ॥
पारिप्लवकाख्याने मनुराजविशामिदं मनुष्यत्वम् ।
उक्तो वाचा श्रोत्रियगृहमेधित्वं तु लक्षणं तेषाम् ॥ ८ ॥

ये गृहकर्म्मव्यग्रा विश्वपरिस्थितिपरीक्षणे विमुखाः ।
वैज्ञानिका न येस्युस्तेहि वृथाजीवना मनुष्याः स्युः ॥ ६ ॥

साध्यादिसभ्यसमाजस्य प्राग्धर्मत्यागपूर्वकं ब्रह्मदीक्षया वैदिकधर्म्मे प्रवेशः ।

श्रद्धादेवस्य मनोः पञ्चजना दुहितृसंततयः ।
देवाभिधा मनुष्यास्त्वपरे तस्यैव पुत्रसंतानाः ॥ १० ॥
ऋषीन् पितॄन् देवगणांश्च तैर्य्यग्योनांस्तथा दैवतयोनिजीवान् ।
दैवे युगे ब्रह्मकृतव्यवस्थान् स्वदृष्टधर्म्मेष्वनयद् विधाता ॥ १ ॥
साध्यादयस्तस्य मतं ग्रहीतुं समाजबन्धेऽपि च तेन क्लृप्ते ।
प्रवेष्टुमैच्छन्न यदा तदानीं ब्रह्मा व्यनैषीत् तुषितान् पुरस्तात् ॥ २ ॥
स्वल्पेन कालेन ततः क्रमेण स्वयं व्यवस्था मणिजानुक्लृप्ता ।
शैथिल्यमैद् विश्वगुरोर्व्यवस्था त्वह्नाय विश्वप्रथिता बभूव ॥ ३ ॥
निःसार एषोऽस्ति य एष धर्म्मो मर्त्यैर्निजेच्छापरिकल्पितः स्यात् ।
यया तु रीत्येश्वर एष विश्वं निर्वाहयत्येष परोऽस्ति धर्म्मः ॥ ४ ॥
या हीश्वरी पद्धतिरस्ति तस्यां देवाश्चतुर्वीर्य्यविभक्तधर्म्माः ।
तयाऽनुकृत्या विहितो हि धर्म्मः स्यादीश्वराज्ञानुविधोऽत्युदारः ॥ ५ ॥
या पद्धतिः कर्म्मणि देवजुष्टा विज्ञानमस्या इह वेदमाहुः ।
स आर्य्यधर्म्मः सुदृढोऽविनाशी यतोऽस्य मूले सविताऽयमार्य्यः ॥ ६ ॥
इत्थं प्रजाः पूर्वयुगे व्यवस्थिताः सभ्या अभूवन्नखिलक्षितौ स्थिताः ।
नित्या च धर्म्मेण च संप्रयुक्तया मर्य्यादया ता इह कर्म्म चक्रिरे ॥ ७ ॥
ऋक्संहितायामधिदैवमुक्ता विज्ञानतः सूर्य्यगना यथार्थाः ।
तथाधिभूतं पृथिवीस्थजीवान् प्रायेण विद्यादितिहासतश्च ॥ ८ ॥

प्राग्युगीयनरजातिषु देवासुरसमाजयोः प्राधान्यम् ।

इत्थं तदात्वे समयप्रभावादनेकजातिष्वधरोत्तरासु ।
स्थितास्वपि द्वे प्रबले अभूतां देवाः प्रधाना असुराः प्रधानाः ॥ १ ॥
देवेन्द्र आसीदसुरेन्द्र आसीत् तयो प्रशास्त्रोरखिलाः स्वराजोः ।
आधीन्यमन्यान्यसमग्रजातीश्वराश्च सम्राज इहोपजग्मुः ॥ २ ॥

देवा हि शान्ताः सुधियोऽनृशंसा विद्याप्रधाना व्यवसायशीला. ।
कलाप्रधानव्यवसायशीलास्त्वन्ये बलिष्ठोद्धतधातुकास्ते ॥ ३ ॥
भूम्यर्थवादे सुचिरं प्रसक्ते देवेभ्य आधाद् द्रुहिणास्त्रिलोकीम् ।
अन्यास्तु सर्वा क्षितयोऽसुरेभ्योऽनेन प्रदत्ता भुवि विप्रकीर्णाः ॥ ४ ॥

॥ इति प्रजासृष्टिः ॥



अथ लोकसृष्टिः



साध्ययुगीयलोकव्यवस्थातः प्रभिन्ना ब्रह्मयुगीया लोकव्यवस्थाक्लृप्तिः ।

दिव्यब्रह्मावतारोऽयं नरब्रह्मा महाशयः ।
दिव्यब्रह्मप्रेरितया शक्त्या लोकान् व्यचालयत् ॥ १ ॥

पृथ्व्या उच्चस्थानं यज्ञार्थं वेदिरूपतः क्लृप्तम् ।
ब्राह्मे युगे तु पश्चात् सर्वा पृथ्वी व्यभज्यत त्रेधा ॥ २ ॥

लोकालोकौ दिक् चेत्यथ लोकेऽस्मिन् पुनः कृता भागाः ।
पूर्वं कृता त्रिलोकी स्वर्गे लोके च सप्त लोकाः स्युः ॥ ३ ॥

लोकानां वर्षाणां द्वीपानां चेत्थमेतेषाम् ।
व्याचक्ष्महे विभागान् क्रमतस्तत्रास्ति मुख्यतो लोकः ॥ ४ ॥

तत्रादौ जगत्यास्त्रेधा विभागाः ।

विशिष्ट-साधारणवासभेदात् वासव्यवस्था द्विविधा कृताऽऽसीत् ।
देशोऽस्ति यः सभ्यनिवासहेतोर्यत्र व्यवस्था नियता स लोकः ॥ १ ॥

देशो निवासाय कृतो विभज्यते लोकोऽप्यलोको दिगिति त्रिभेदत ।
लोकः स यत्र स्थितिरस्ति सम्पदा दैव्याऽस्त्यलोकत्वमितोऽपसव्यता ॥२॥

प्रान्ते तयोर्दिग्व्यवहार इष्यते प्रत्यन्तदेशं दिगिति प्रचक्षते ।
लोके समर्य्यादजना अलोकतः स्वैराशया दिक्षु तु हीनवृत्तयः ॥ ३ ॥

प्रकाशभागे भुवने जने च प्रवर्त्तते खल्वपि लोकशब्दः ।
यावान् प्रकाशोऽस्ति रवेः स लोकः प्रकाशशून्यः पुनरस्त्यलोकः ॥ ४ ॥

लोकव्यवस्था त्रिविधा विवक्ष्यते सौरी तथाऽऽग्नेय्यपि मानसीतरा ।
ब्रह्मा हि सूर्योऽग्निरथो जगद्गुरुर्लोकव्यवस्थां तनुते पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

सौरी लोकव्यवस्था ।

यावद् वियद् भासयते स्वरश्मिभिस्तन्वन् समन्ताद् द्युतिमण्डलं रविः ।
लोकः स ऊर्ध्वं तमसोऽस्त्यलोकता लोकोऽप्यलोकोऽपि दिगत्र सन्धितः ॥१॥

लोको यस्मादन्तरेऽस्ति प्रकाशो यस्माद् ध्वान्तं बाह्यभागेऽस्त्यलोकः ।
तस्मात् सन्धिस्थानमाहुः पुराणा लोकालोकं तत्र लोकः समाप्त ॥ २ ॥
भूतान्याहुर्दैवतानप्यमुष्मिन् लोके लोकान् लोकिलोकाविभेदात् ।
लोके तस्मिन् लोकिनां भक्तिभेदात् सिध्यन्त्यन्येऽप्यान्तराः केऽपि भेदा ॥३॥
भूतानुरोधेन तु सप्त लोका मृद्वारितेजोऽनिलखासुचित्तैः ।
पूर्वं परेणावृतमस्ति पृथ्वीन्द्वर्काश्च सप्तावरणाः पृथक् स्युः ॥ ४ ॥
देवानुरोधेन च भूर्भुवः स्वर्महर्जनश्चापि तपश्च सत्यम् ।
एभ्यः परस्तात्तु परोरजा यः सोऽलोक आहुस्तमलोकलोकम् ॥ ५ ॥
आनन्द सज्ज्योतिषां ज्योतिरेतत् सूर्य्याद् यस्यां दिश्यलोकेस्ति लोकः ।
तस्यां जीव प्रैति यस्तस्य मुक्तिर्दिश्यन्यस्यामन्धकारेऽस्य पातः ॥ ६ ॥

आग्नेयी लोकव्यवस्था ।

पृथ्व्यां परज्योतिषि यत्र चार्द्धैः सूर्य्यांशवो यान्ति दिवं स लोकः ।
ततो विपर्य्यस्तदिशि त्वलोको भूच्छायया‍ऽर्कद्युतिमान्द्यतश्च ॥ १ ॥
दैवी संपद् यस्य जीवात्मनि स्यादूर्ध्वैर्लोकैः स त्रिभिर्याति सूर्य्यम् ।
आसुर्य्याऽन्य संपदा यात्यधस्ताद् भूच्छायायां वा मन्दगं वा तमोन्धम् ॥ २॥

मानसी लोकव्यवस्था ।

इत्याग्नेयी लोकसंस्था यथाऽऽसीत् तद्वद् भूमौ मानसी कल्पिताऽभूत् ।
अर्द्धं भूम्या दैवतार्थं स लोकोऽधस्तादर्धं त्वासुरं दिक् त्वनार्य्या ॥ १ ॥
नाभौ मेरुस्तूत्तरो यावतः स्याद् भूभागस्य प्रान्ततो वैषुवं स्यात् ।
तावान् भागो देवलोकोऽपसव्यस्त्वस्यालोकः सोऽसुरेभ्यः प्रदिष्ट. ॥ २ ॥

लोके त्रैलोक्यविभागाः ।

लोकोऽलोको दिक् च पूर्वं त्रयो ये भागाः क्लृप्तास्तत्र लोकस्त्रिभागः ।
अग्नेर्वायोरादितेयस्य भक्त्या लोके भेदास्त्रीन् पुनः कल्पयन्ते ॥ १ ॥
यद्वा त्रेधा कल्पनाया निमित्तं भिन्नं भिन्नं दृश्यते तत्र तत्र ।
भक्तिस्त्रेधं केनचिद्धेतुना चेत् त्रैलोक्यं स्यात् कल्पितं तावतैव ॥ २ ॥
दिश्या दैही कौर्म्युदूढा सहस्री पैगडी ध्रौवी मेरुज नाकजे द्वे ।
इत्थ सिद्धा वेदतो लोकतो वा नानासंस्थास्ता दशैव त्रिलोक्यः ॥ ३ ॥

दिश्य त्रिलोकी ।

पादो यस्यां दिश्यमुख्यास्ति जन्तोः सा दिक् पृथ्वी द्यौस्तु यस्यां शिरोऽस्य ।
द्यौरुर्ध्वा दिग् भूमिरेषाऽधरा दिग् द्यावा-भूम्योरन्तरं त्वन्तरिक्षम् ॥ १ ॥

गुहात्रयी देहत्रिलोकी ।

जन्तोर्देहे या गुहा भान्ति तिस्रस्ताभिर्देहे कल्पिता स्यात् त्रिलोकी ।
अग्नेर्लोकस्त्वौदरीहौरसीयं वायोरैन्द्री सा गुहा या शिरस्या ॥ १ ॥

त्रैधातवी कूर्म्मत्रिलोकी ।

कूर्म्मत्रिलोकी तु दृशैव कल्प्या द्यौर्नीलमूर्ध्वं तु कटाहवत् खम् ।
अधस्तनाऽदर्शसमा तु पृथ्वी तदन्तरिक्षं वियदन्तरिक्षम् ॥ १ ॥
द्यौरेव स्यादुत्तरं तत्कपालं पृथ्व्या ऊर्ध्वं संगृहीतोदरं यत् ।
पृथ्वी पृष्ठं चाधरं तत् कपालं स्थाल्याकारा बन्धुरं भाति दृष्ट्या ॥ २ ॥
अन्तर्यत् स्यादेनयोरन्तरिक्षं तत्तैरेवं भासतेऽन्या त्रिलोकी ।
आविद्धाया अप्सु तस्या रसो यो विस्रस्त. स्यात्तस्य कूर्म्मत्वमाहुः ॥३॥
दैवी त्रिलोक्याप्सु हि या प्रबिद्धा अत्यक्षरत् कोऽपि पराङ्रसोऽस्या ।
स एष कूर्म्मो रस एव यावान् रसः स तावानिह कौर्म्म आत्मा ॥ ४ ॥
पृथ्व्या रूपं दध्यमुष्या मधु द्यौराज्यं रूपं त्वन्तरिक्षस्य कल्प्यम् ।
आत्मा तावानस्ति यावान् रसोऽयं लोकाकारः कूर्म्मवत् संनिविष्ट ॥५॥
कूर्म्माकारो दृष्टित कल्प्यतेऽसौ द्रष्टा भूमेः पश्यकस्तेन क्लृप्त ।
एतं प्राणं कश्यपं प्राहुरित्थं रूपं कृत्वा सृष्टिमस्यां करोति ॥ ६ ॥
सृष्टेः कर्त्ता प्राण एवास्ति कूर्म्म कश्यात् पाता कश्यपः स्यात् पशुस्तु ।
अन्योन्यस्याकारसाम्यात्तु शब्दावन्योन्यन्यस्मिन् संप्रवृत्ता भवेताम् ॥७॥
एकैकस्मिन् भूप्रदेशस्य विन्दौ कूर्माकार प्राण एतान् रसान् स्वान् ।
सिञ्चत्यूर्व्यां मातृगर्भे पितेव स्रष्टा तस्मात् द्यौ पिता, भूस्तु माता ॥८॥
यस्मादेवं कश्यपात् सर्वसृष्टिः काश्यप्यस्तास्तेन सर्वाः प्रजाः स्युः ।
सूर्य्यश्चायं काश्यपः काश्यपीयं पृथ्वीपिण्डा येऽखिलाः कश्यपात् ते ॥ ६ ॥

द्यावापृथिव्यात्मकस्य कूर्म्मशरीरस्य वसुधानकोशत्वम् ।

वसुधानकोश एषोऽस्त्यस्मिन् निहितं हि विश्ववसु ।
ताण्ड्यश्रुतौ तथा चोपनिषदि तच्छ्रूयते रूपम् ॥ १ ॥

"अन्तरिक्षोदर कोशो भूमिबुध्नो न जीर्य्यति ।
दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम् ॥
स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदं श्रितम् ॥"

(छा० उ० ख १५)

कूर्म्मत्रिलोक्यां द्यावापृथिव्योः श्रुत्युक्तं लक्षणम् ।

लक्ष्मावस्तादस्त्यमुष्या दिवो वै नक्षत्राणीमानि चन्द्रश्च सूर्य्यः ।
अस्याः पृथ्व्यास्तूपरिष्टाच्च लक्ष्मौषध्यो वृक्षा अग्निरापः प्रजाश्च ॥

(शत० १।५।५)

बाहुल्यं वै दृश्यतेऽस्यां पृथिव्यां संभाव्येते ते दिवौ लेलयेव ।
आदित्योऽसावस्त्यवस्ताद् दिवोऽस्या इत्थं श्रुत्या सूर्य्यतो द्यौः पृथक् स्यात्॥१॥

द्यावापृथिव्योः पुराणोक्तस्य प्रमाणसाम्यस्य प्रतिषेधः ।

यावद् व्योम्नो मण्डलं दृश्यतेऽदः स्यातां छेदौ तस्य पृथ्वीप्रक्लृप्तौ ।
यस्मिन्नर्द्धे भाति सूर्य्योऽस्ति सा द्यौः पृथ्व्यारब्धं त्वन्यदर्द्धं हि पृथ्वी ॥१॥
"रवि-चन्द्रमसोर्यावन् मयूखैरवभासते ।
ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ॥
यावत्प्रमाणा पृथिवीविस्तारपरिमण्डलम् ।
नभस्तावत्प्रमाणं हि विस्तारपरिमण्डलम् ॥"

(पुराणे वाक्यम्)

इत्थं यद्यप्यस्य सूर्य्यस्य भासा स्पृष्ट पृथ्व्या अर्द्धमेवात्र पृथ्वी ।
द्यौरप्येवं दृश्यखण्डं दिवोर्द्धं द्यावाभूम्योरित्थमुक्तं समत्वम् ॥ २ ॥
किन्तु भ्रमो नास्ति पृथ्व्यास्तदर्द्धं दृश्यं दृष्ट्या दृश्यते यावदस्याः ।
तावान् स्वल्पोऽनुन्नतो भाग एव प्रान्ते श्लिष्टौ दृश्यतेऽर्द्धद्युभागे ॥ ३ ॥

भिन्नपिण्डत्रिलोकी उदूढत्रिलोकी ।

स्वतःप्रकाशः परतःप्रकाशो रूपप्रकाशस्त्रिविधा हि पिण्डाः ।
देवैश्च भूतैश्च कृतास्त एते तांस्तेन लोकान् प्रवदन्त्यमीषाम् ॥ १ ॥
पिण्डः स्वयंज्योतिरिहोच्यते द्यौः परज्योतिरिहान्तरिक्षम् ।
पृथ्वीत्वमज्योतिषि वच्मि पिण्डे वाय्वाद्यपिण्डं च तथान्तरिक्षम् ॥ २ ॥

पृथ्वी तु पृथ्वी रविस्त्वयं द्यौश्चन्द्रश्च वायुश्च नभोऽन्तरिक्षम् ।
अत्राद्यभावेन रवेः पृथिव्याः परस्परं व्युद्वहनं प्रतीमः ॥ ३ ॥

*
साहस्री त्रिलोकी ।

स्वतःप्रकाशः परतःप्रकाशो रूपप्रकाशस्त्रिविधा हि पिण्डा ।
देवैश्च भूतैश्च कृतास्त एते तांस्तेन लोकान् प्रवदन्त्यमीषाम् ॥ १ ॥
देवानुरोधादिह तु त्रिलोकी तथा चतुर्लोकगतिश्च क्लृप्ता ।
अग्निश्च वायुश्च रविश्च सोमश्चैते स्थिता यत्र त एव लोका ॥ २ ॥
अग्निः पृथिव्यस्ति तथाऽन्तरिक्षं वायुस्ततो द्यौरयमादितेयः ।
आपस्तु सोमस्त इमे पृथिव्यां चन्द्रे च सूर्य्ये च भवन्ति भागाः ॥ ३ ॥
यथाऽस्य सूर्य्य य समन्ततोंऽशवस्तथा पृथिव्या अपि सन्ति सर्वतः ।
कृष्णास्तु ते संप्रचरन्ति तन्मयी रात्रिर्दिवा भान्ति न सूर्य्यभावृताः॥ ४ ॥
दिवा पृथिव्यामिह सूर्य्यरश्मयः प्रत्याहता यान्ति रविं विपर्ययात् ।
रथन्तरे सामनि ते च निष्ठितास्तत्र त्रिलोकी क्रमतो विविच्यते ॥ ५ ॥
अग्नेर्निवेशादिह सा त्रिलोकी सोमाच्चतुर्लोकगतिश्च क्लृप्ता ।
अग्निश्च वायुश्च रविश्च सोमश्चैते स्थिता यत्र त एव लोकाः ॥ ६ ॥
भूगर्भतोऽग्नेः परितोऽस्ति विक्रमो भूपिण्डतो यावति खे बहिर्बहिः ।
आलम्बते तत्परतो दिगागतः सोम समन्ताद् वसुधाऽन्तरस्थित ॥ ७ ॥
सोमावधिः सा पृथिवी विवक्ष्यते तस्यास्त्रयस्त्रिंशदहर्विभक्तयः ।
अन्तस्त्रिकं पञ्च तु षट्कभक्तय स्तत्र त्रिलोकी प्रथमास्त्रिभक्तय ॥ ८ ॥
पृथ्वी त्रिवृत् पञ्चदशो विहाया द्यौरेकविंशोऽग्निमयी त्रिलोकी ।
स्तोमद्वयं सोमि चतुर्थलोकश्चतुर्विभक्तोऽस्त्यथवा दिगेषा ॥ ९ ॥
+
अद्भिश्चतुर्लोकगतिर्द्वितीये पाठे श्रुता गोपथषोडशेऽङ्गे ।
–
कौषीतकाद्यादशकेऽपि पश्याम्यापश्चतुर्थोऽस्ति हि देवलोकः ॥ १० ॥

* पिण्डसामत्रिलोकी, एकपिण्डत्रिलोकी चेति नामान्तरम् ।

+ गोपथब्रा० पू०२।१६

– कौषी० १८।२

लोकत्रयादपि इमाः परस्ताद् दिव्याश्च भौमाश्च समुद्रियाः स्युः ।
भृग्वङ्गिरोमय्य इमाः किलापः सोमं तु तल्लोकपतिं शृणोमि ॥ ११ ॥
यमोऽग्निरादित्य इति त्रयं यत्तदङ्गिरोरूपमिहाप्नुवानम् ।
आपश्च वायुश्च स चन्द्रमाश्चेत्याप्यायकं वै भृगुरूपमस्ति ॥ १२ ॥
दिव्या त्रिलोकी त्रिविधास्ति, साहस्र्येषोदिताऽन्या तु भवत्युदूढा ।
पृथ्वी तु पृथ्वी, रविरस्त्ययं द्यौर्यदन्तरं व्योम तदन्तरिक्षम् ॥ १३ ॥

पिण्ड–भक्ति–त्रिलोकी ।

स्वज्योतिषोऽस्मादितरत्र पिण्डे त्रैलोक्यमिष्टं दिनरात्रिसन्ध्यैः ।
ज्योत्स्ना पितॄणामसुरस्य पृष्ठच्छायाऽथ गन्धर्वजनस्य सन्धिः ॥ १ ॥
देवा दिवा नक्तमिहासुराः स्युः सन्धौ मनुष्या इति भूत्रिलोकी ।
'गन्धर्वदेवासुरमानुषाणामरभस्त्वमाहु' खलु तैत्तिरीयाः ॥ २ ॥
इति त्रिलोकी त्रिविधास्ति दिव्योदूढाऽपि साहस्र्यपि पैड्यपीयम् ।
पृथ्वी तु पृथ्वी रविरस्त्ययं द्यौर्यदन्तरं व्योम तदन्तरिक्षम् ॥ ३ ॥

ध्रुवत्रिलोकी–नाक–त्रिलोक्यौ ।

यदग्निसोमद्वयमूलभूतं ब्रह्मास्ति तस्मात् प्रथिता त्रिलोकी ।
दिव्यापि तामेव विलोक्य मर्त्यब्रह्माऽपि भूमौ व्यदधात् त्रिलोकीम् ॥ १ ॥
यथा दिवीमे ध्रुवनाकमूले द्यावापृथिव्यौ प्रथिते ह्यभूताम् ।
तथैव भूमौ ध्रुवनाकमूले द्यावापृथिव्यावितरे प्रक्लृप्ते ॥ २ ॥
ध्रुवाच्चतुर्विंशमितांशतुल्यव्यासार्द्धवृत्तान्तरमिष्यते द्यौः ।
ततोऽन्तरिक्षं परितो द्विचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिरस्ति पृथ्वी ॥ ३ ॥
नाकाच्चतुर्विंशतिसंमितांशव्यासार्द्धवृत्तान्तरतः स्वरुक्तम् ।
व्यासार्द्धतो विंशकलाढ्यसप्तत्रिंशन्मिताद् वृत्तकृतं भुवः स्यात् ॥ ४ ॥
स्यात् सप्तपञ्चांशमितांशतुल्यव्यासार्द्धवृत्तेन तु भूः परस्तात् ।
इत्थं द्वितीया विहिता त्रिलोकी नाकात् तयोश्च व्यवहारसाम्यम् ॥ ५ ॥
लोका भुवः सूर्य्यत एव तेन ध्रुवाच्च नाकाच्च पृथक् त्रिलोकी ।
सिद्धाथ तामेव विलोक्य मर्त्यब्रह्मापि भूमौ व्यदधात् त्रिलोकीम् ॥ ६ ॥

(मानुषी लोकव्यवस्था) भौमत्रिलोकी ।

स पञ्चकृष्टीर्विभजन् विधाता तेषां निवासानकरोत् स लोकान् ।
पृथ्व्यामुदङ्मेरुविभाग एकः परस्त्ववाङ्मेरुविभाग आसीत् ॥ १ ॥
सूर्य्यः पृथिव्या ध्रुवमर्द्धपार्श्वे तपन सदा वासयतेऽत्र देवान् ।
अर्द्धेऽसुरान् तद्वदयं न्ययच्छद्देवासुराभ्यां च भुवोर्द्धमर्द्धम् ॥ २ ॥
य उत्तरो मेरुरनेन भक्ता भूमे प्रदेशा इह देवतानाम् ।
ततो विदिक्पार्श्वगता कुमेरो प्रान्तस्थदेशा असुरेभ्य आसन् ॥ ३ ॥
देवी त्रिलोकी त्वथराऽऽसुरीया भूमिस्तयो सन्धिगते प्रदेशे ।
गन्धर्ववर्गाश्च तथा मनुष्यान् ब्रह्माऽयमावासयदत्र पृथ्व्याम् ॥ ४ ॥
कृतव्यवस्थोऽन्तरत प्रदेशो लोक कृत सभ्यनिवासहेतोः ।
तत्प्रान्तदेशास्तु दिशोऽत्र नीचा वसन्त्वमर्य्यादधियोऽप्यसभ्याः ॥ ५ ॥
द्यौरन्तरिक्ष पृथिवीति लोकास्तत्प्रान्तदेशास्तु दिश सबाह्याः ।
द्यौरूर्ध्वतो मध्यममन्तरिक्षं पृथ्वी त्वधस्तान्तु दिशोऽन्ततः स्युः ॥ ६ ॥

मेरुमूला त्रिलोकी ।

ध्रुवादधो यः पृथिवीप्रदेशः स मेरुरित्थ प्रतियन्ति लोकाः ।
ब्राह्माऽभिजिद्धादधर प्रदेश सुमेरुरासीत्तु पुरायुगे सः ॥ १ ॥
प्राग्मेरुतोऽस्मात् प्रभृति प्रक्लृप्तं लोकत्रयं दिव्यवदेव भूमौ ।
ध्रुवात् प्रभृत्यस्ति हि या त्रिलोकी ततो विशेषस्त्विह कश्चिदस्ति ॥ २ ॥
ध्रुवाच्चतुर्विंशमितांशतुल्यव्यासार्द्धवृत्तान्तरमिष्यते द्यौः ।
ततोऽन्तरिक्षं परितो द्विचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिरस्ति पृथ्वी ॥ ३ ॥
मेरोस्त्रयस्त्रिंशपरांशतुल्यव्यासार्द्धसंसाधितमण्डलान्त ।
ये सन्ति देशास्त इमे त्रिभक्ता लोकास्त्रय पूर्वयुगे नियुक्ताः ॥ ४ ॥
*
मेरोस्त्रयस्त्रिंशदिहोत्तरांशा द्यौर्मेरुतो दक्षिणमन्तरिक्षम् ।
त्रयोदशांशा अपि सत्रिभागा पृथ्वी ततो दक्षिणतोऽवशेषाः ॥ ५ ॥

---

* भारद्वाज उवाच– 'अस्माल्लोकात् परो लोक श्रूयते नोपलभ्यते ।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥'

(अस्योत्तर मग्निमपृष्ठ टिप्पण्याम्)

प्राग्मेरुतस्तूत्तरमुत्तरोदधि यावन् मही द्यौरिति निश्चिताऽभवत् ।
इरावतीनिर्गमनाद्यदुत्तरं प्राग्मेरुपर्यन्तमिहान्तरिक्षकम् ॥ ६ ॥
इरावतीनिर्गमनात्तु दक्षिणा पृथ्व्यस्ति लङ्कावधि तत्र मानुषाः ।
इत्थं त्रिलोकी परिकल्पिताऽभवत् पुरायुगे सभ्यनिवासहेतवे ॥ ७ ॥
पृथ्व्यस्ति लङ्काहिमशैलमध्ये द्रोण्यो हिमाद्रेरिदमन्तरिक्षम् ।
हिमालयादुत्तरतः प्रदेशो द्यौः सागरं यावदथो दिशोऽन्ताः ॥ ८ ॥
उदक्समुद्रोऽयमवाक्समुद्रः प्रत्यक्समुद्रावपि रक्तकृष्णौ ।
प्राक् पीतसिन्धुर्यमकोटिसिन्धुस्त्रैलोक्यसीमास्ति परा दिशः स्यु ॥ ६ ॥
त्रैलोक्यमिन्द्राय ददौ विधाता गुरुर्महामान्यवरोऽखिलानाम् ।
शेषास्तु सर्वाः क्षितयोऽसुरेभ्योऽनुल्लङ्घनीयं विधिशासनं तत् ॥ १० ॥
पृथ्वीसमोऽर्वाग्धि मनुष्यलोकः प्रागुत्तरे चन्द्रवदस्ति पित्र्यः ।
दैवस्तु लोको रविवन्मरुद्वत् सुविप्रकीर्णाश्रितमन्तरिक्षम् ॥ ११ ॥

पृथिव्यामुत्तराखण्डे द्यौः स्वर्गः ।

(दिव्यत्रिलोकी–भौमत्रिलोक्योः साम्य–वैषम्ये)

य. सूर्य्यलक्ष्मापरतः प्रदेशो भूयान् यथा द्यौर्बहुधा विभिन्ना ।
प्राग्मेरुलक्ष्मापरत प्रदेशो भूयान् तथा द्यौर्बहुधा विभिन्ना ॥ १ ॥
द्यौर्वा दिवो वा नु पृथक्त्वमिच्छन्त्येके भवेद्वा क च तत्तथादौ ।
श्रुतौ स्मृतौ वा तु तयोरिदानीं सर्वत्र दृष्टं व्यवहारसाम्यम् ॥ २ ॥

भृगुरुवाच–　'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते ॥
स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र युक्ता शुभा गुणा ।
काले मृत्यु· प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥
इह प्रजापति. पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा ।
इष्ट्वेष्टतपस पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥
उत्तरः पृथिवीभाग. सर्वपुण्यतम शुभ· ।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जना. ॥'

(महाभा० शा० प०, मोक्षधर्मे अ० १६२

यथैव सूर्य्येद्यवि सन्ति देवा मेरुद्यवीमे च तथा नृदेवाः ।
न सर्वथा संभवतीह साम्यं छायैव साम्ये तु सदा धृता स्यात् ॥ ३ ॥

ध्रुवभ्रमणात्—मेरुप्रदेशभेदः ।

यत् क्रान्तिवृत्तं रविवर्त्म तस्मात् पृष्ठीयकेन्द्रं यदुदकूस्थमस्ति ।
तद्विष्णुधामास्य जिनांशतुल्यव्यासार्द्धतो विष्णुपदाख्यवृत्तम् ॥ १ ॥
तत्रैव वृत्ते चरति ध्रुवं तद् यत्पृष्ठकेन्द्रं विषुवाख्यनाड्याः ।
ब्रह्माऽभिजित्संनिहितोऽत्र वृत्ते कश्चित् प्रदेशो ध्रुवबिन्दुरासीत् ॥ २ ॥
अक्षः पृथिव्यश्चित उत्थितः खे पृणक्ति यत्र ध्रुव एष बिन्दुः ।
सोऽक्षः पृथिव्या गतिमाननेकैः संवत्सरैः क्राम्यति सर्वदिक्षु ॥ ३ ॥
अक्षः पृथिव्याः क्रमशः परिभ्रमंस्तद्विष्णुधाम्नस्तु जिनांशतोऽन्तरे ।
दृष्टोऽभिजिद्ब्राधरभूतले पुरा पग्ध्रुवाधस्तनभूतलेऽद्य तु ॥ ४ ॥
यत्रैव सोऽक्षः प्रतितिष्ठति क्षितौ देशः स मेरुः प्रथते नु तत्क्षणे ।
तन्मेरुखस्वस्तिकमेव च ध्रुवं वदन्ति शब्दास्तदिमे विचारिणः ॥ ५ ॥

कालभेदेन ध्रुवस्थितिभेदः ।

या हंसताराऽस्ति ततस्तु पश्चिमोत्तरे तुरीयांशसमे नभस्तले ।
कदाचिदासीद् ध्रुव एष तादृशे काले बभूवुर्मणिजाः कृतोदयाः ॥ १ ॥
चक्रेऽभवद्विष्णुपदेथ कालतो ब्रह्माऽभिजित्संनिहितो हि स ध्रुवः ।
ब्राह्मी स्थितिस्तर्ह्यभवत् क्रमात्तदा विभ्रंशमापुर्मणिजा इमेऽखिलाः ॥ २ ॥
ब्राह्मी स्थितिर्दैवयुगं नु कथ्यते विद्याश्च शिल्पानि च वीर्य्यसंपद् ।
सभ्यत्वसामाजिकसंस्क्रिया परोन्नतिं तदागुर्न पुनस्तथाऽभवत् ॥ ३ ॥
युग्मं वशिष्ठाङ्गिरसोश्च युग्मं विधातृधात्रोश्च तदन्तराभम् ।
तत्र ध्रुवेऽभ्रश्यत यज्ञविद्या तदोदयो रोमकपत्तनानाम् ॥ ४ ॥
अद्य ध्रुवश्चाभिजितो ह्यमुष्माद् ध्रुवाद्विरुद्धां दिशमागतोऽस्ति ।
ब्राह्म्याः स्थितेर्दैवयुगाद्विरुद्धास्ततो नराणां प्रतिमाः प्रजाताः ॥ ५ ॥

---

* जिनशब्देन चतुर्विंशतिसंख्या गृह्यते ।

इत्थं ध्रुवश्चर्द्धक्रमणं प्रकुर्वन् ज्ञानेषु वीर्य्येषु च संपदासु ।
बलात् परावर्तयते स लोकस्थितिग्रहर्त्तादिगतेर्विभेदात् ॥ ६ ॥

नाक-ध्रुवयोर्विष्णु-ब्रह्मणोर्दूरत्वस्यान्यान्यत्वम् ।

अत्राभिजिद्धात् त्रिमितोत्तरांशे ध्रुवः पुरा देवयुगेऽयमुक्तः ।
यतश्चतुर्विंशतिरन्तरांशा भवन्ति नाक-ध्रुवयो· प्रसिद्धाः ॥ १ ॥
यद्वा ह्रसन्त्येव तु विष्णुधाम्नो नाकात् सदा विष्णुपदान्तरांशाः ।
क्रान्तिः कदाचित् परमास्य भानोः सप्ताधिका विंशतिरास्थिताऽभूत् ॥ २ ॥
+
नाकाच्च सप्तोत्तरविंशकांशेऽभिजिद्भदेशे ध्रुवबिन्दुरासीत् ।
स एष वैकुण्ठमहेन्द्रकालः स ब्रह्मणो वाऽभ्युदयस्य कालः ॥ ३ ॥
सार्द्धा त्रयोविंशतिरल्पकोनाद्यत्वे तु नाक-ध्रुवदूरतांशाः ।
कालेन मन्येऽन्तरशून्यतायां ध्रुवो ध्रुवं स्यादयमेव नाक ॥ ४ ॥
इदं मतं यद्यपि निश्चितं धृतं तथापि सौकर्य्यधिया जिनांशतः ।
सर्वं व्यवस्थापितमत्र तन्मया मतान्तरं तत्र यतोऽनुवर्त्तते ॥ ५ ॥

अभिजित्परिक्रामिणः सूर्य्यस्याभिजिद्भाद्दूरगमतम् ।

विष्णुपद-विष्णुधाम्नोर्दूरत्वं सप्तविंशति. कथितम् ।
किन्तु चतुर्विंशतिरिति परमा क्रान्तिः श्रुता तर्हि ॥ १ ॥
तस्मात्ततो विरोधान्नाकध्रुवयोस्तदन्तरं मन्ये ।
आसीद्देवयुगान्ते क्वापि चतुर्विंशतिः काले ॥ २ ॥
नाकस्तु विष्णुधाम प्रदृश्यते यत्र चैतर्हि ।
तस्माद्दक्षिणतस्तु त्र्यंशे स पुरायुगे नेय ॥ ३ ॥
सूर्य्य· परमेष्ठिनमनु परिभ्रमन्नग्रतो याति ।
तेनाभिजितः सूर्य्यस्त्र्यंशेनोत्तरमगाद् दूरे ॥ ४ ॥
खस्वस्तिकं हि सूर्य्यस्यैवायं कथ्यते नाकः ।
स यथायथैष सूर्य्योऽपसरति नाकोऽपि कल्पते भिन्नः ॥ ५ ॥

+ सप्तविंशतितमेंऽशे ।

अभिजिद्ब्रह्मा हंसारूढः सोऽभूद् ध्रुवस्तत्र ।
तस्मादभवन्नाको जिनांशकलितान्तरे पूर्वम् ॥ ६ ॥

सूर्य्यस्याभिजिद्भाद् दूराभिगमने विप्रतिपत्तिः ।

अद्यत्वेऽर्वाचीनाः पाश्चात्या केऽपि विद्वांसः ।
अभिजितमभिसूर्य्यस्यानुदिनं समीपां गतिं ब्रुवते ॥ १ ॥
अपि वा स रेवतीतश्चित्रामन्वहरहर्गच्छन् ।
अभिजित्समीपमहरहरायातीत्येवमप्याहुः ॥ २ ॥
पृष्णो रैवतमस्य हि पूर्वयुगापेक्षयांशुमालिन्यम् ।
चित्रा-स्वात्योरंशोरभिवृद्धिश्चात्र हेतुः स्यात् ॥ ३ ॥
ब्रूमो वयन्तु सूर्ये शक्तिः परभाऽपकर्षिणी चास्ति ।
रविसांनिध्यात् पूर्वं चित्रास्वात्यभिजितां प्रभामान्द्यम् ॥ ४ ॥
अद्य खलु यावद्दूरं सूर्य्योपसरत्यमीषु तावदिव ।
भवति प्रभाभिवृद्धिस्तद्रविरभ्येति नाभिजितम् ॥ ५ ॥
स्वस्वस्तिकं तु पृथ्व्या अक्षस्याद्धुर्ध्रुवं च विष्णुपदम् ।
नाकसमीपं सोऽक्षोऽभ्येति यथा स ध्रुवस्तथा भिन्नः ॥ ६ ॥
पूर्वं तु चतुर्विंशत्यंशा नाकध्रुवान्तरं जातु ।
अद्यत्वक्षभ्रमतस्तद् द्वात्रिंशत्कलाहीनम् ॥ ७ ॥
व्योम्नि तारामयोऽनन्तो नागो भात्यस्य पृष्ठतः ।
कदम्बो नाम यज्ञात्मा विष्णुर्नारायणः स्थितः ॥ ८ ॥
एवं भूमौ नागवंशिक्षत्रिया यत्र संतताः ।
तत्पृष्ठे नाकदेशस्थो विष्णुर्यज्ञं तनोति हि ॥ ९ ॥

प्राग्मेरुसमीक्षा ।

† ब्रह्माभिजिद्भादिह पश्चिमेंऽशेऽष्टमे द्वितीये तु तथोत्तरांशे ।
अक्षांशके सांप्रतिके द्विचत्वारिंशे* ध्रुवः पूर्वयुगेऽयमासीत् ॥ १ ॥

† मध्यरेखात पश्चिमे अष्टभिते द्राघिमांशे (देशान्तरांशे) अभिजित्तारातोंऽशद्वयेनोत्तरे ।

* उत्तरेऽद्यतनाक्षांशे (४२)

सोऽयं ध्रुवो दैवयुगे य आसीद् ब्रह्माभिजित्संनिहितोऽत्र चक्रे ।
स एष खस्वस्तिकगस्तदासीद् यद्भूप्रदेशस्य स तर्हि मेरुः ॥ २ ॥

पामीरशब्दसमालोचना ।

पूर्व्वे युगे मेरुरयं यतोऽभूत् प्राग्मेरुमेतं प्रवदामि तस्मात् ।
तुरुष्कराज्योत्तरमेष देश पामीरनाम्ना व्यपदिश्यतेऽद्य ॥ १ ॥
प्राग्मेरुशब्दस्य विकारतोऽयं पामीरशब्दोऽस्त्यथवोपमेरु. ।
पामीर इत्यत्र परोऽस्ति पक्षः साधुर्यतो विस्तृत एष देशः ॥ २ ॥
मेरुर्ध्रुवाधस्तनबिन्दुमात्रो भवेद्गतिस्तस्य न विद्यतेऽह्वा ।
पामीरदेशः शतयोजनात्मा निरुच्यते तेन तयोर्हि नैक्यम् ॥ ३ ॥
अथापि वा नास्ति तयोर्विशेषः प्राग्मेरुशब्दोऽयमिलावृतेऽपि ।
तद्योजनैर्विस्तृतमुक्तमाद्यैः पुरा सहस्राणि जिनोन्मितानि ॥ ४ ॥
विस्तार उक्तोऽपि च मूर्ध्नि मेरोर्द्वात्रिंशता योजनत सहस्रैः ।
तेनोपमेरावपि मेरुशब्दः सर्वाधिकोच्चो भुवि यावदशः ॥ ५ ॥
यत्र च महातरूणामिलावृतप्रान्तसूचकाः शृङ्गे ।
उच्चध्वजा निविष्टा वृत्ताङ्काः केतुपादपास्ते स्युः ॥ ६ ॥

अत्युच्चत्वात् पामीरे "तारतर" शब्दः ।

पामीरदेशोऽस्ति समुद्रपृष्ठाद्धस्तायुतेनोच्चतरः क्वचित्तु ।
न्यूनोऽपि किन्त्वष्टसहस्रतोऽयं न न्यून एषोऽद्रिमयःप्रदेश ॥ १ ॥
सर्वाधिकोच्चोऽस्ति यत पृथिव्यां तस्मादय तारतरः श्रुतोऽभूत् ।
तस्यास्त्यपभ्रंशतया प्रयुक्तस्ताताारशब्दः सह टारटर्य्या ॥ २ ॥
पामीर एवास्ति तथा तथापि प्रोक्तः स शब्दोऽन्वितदेशभेदे ।
पामीरजिम्लेच्छतुरुष्कराज्यप्रसारतस्तत्र स शब्दयोगः ॥ ३ ॥
पञ्चत्रिंशादंशादंशं यावत् किलैकपञ्चाशम् ।†
पश्चात् तृतीयतोंऽशात् षड्विंशान्तो मतस्तु सोऽद्यत्वे ॥ ४ ॥ –°

† ३५ अशात ५१ अशान्तम् ।
– ३ अशात· २६ अशान्त. ।
° तरतारदेश ।

नायं सर्वो देशस्तथाविधोच्चो यथाऽस्ति पामीरः ।
किन्त्वनभिज्ञतुरुष्कव्यवहारात् स विचलितः शब्दः ॥ ५ ॥
पश्चिमसप्तदशांशैरष्टादशभिस्तु पूर्वतोऽप्यंशैः ।
भारतमध्यमरेखावलम्बितं विद्धि तातारम् ॥ ६ ॥
पामीरप्रान्तोऽसावत्युच्चोऽस्तीति तारतरनाम्ना ।
प्रथितस्तमद्य लोका आहुस्तातारमज्ञानात् ॥ ७ ॥

पुराणेतिहासादिषु मेरुशब्देन प्राग्मेरोरेव ग्रहणम् ।

पामीरनाम्ना प्रथितः स मेरुप्रदेश एवास्ति पुराणशास्त्रे ।
भूयस्तुतो न त्वयमद्य दृष्टो मेरुः पुराणेषु निरूपितोऽस्ति ॥ १ ॥
प्राग्मेरुदेशस्तु पुरा य आसीद् "यमद्य" पामीर इति ब्रुवन्ति ।
तात्कालिकान्मुख्यसुमेरुतोऽयं त्र्यंशांशयाम्येऽस्ति स्म पूर्वपश्चात् ॥ २ ॥
ब्राह्माऽभिजिद्ब्राधरभूप्रदेशे स्थितो नवत्र्यंशमिताक्षभागे ।
स पश्चिमे भारतमध्यरेखारब्धे तु षष्ठेंऽश उपाश्रितोऽस्ति ॥ ३ ॥
प्राच्यां सितो, दक्षिणतस्तु पीतो, रक्तोऽस्त्युदक् पश्चिमतस्तु नीलः ।
इत्थं स चित्रोऽद्रिमयोपमेरुस्तन्मध्यतोऽत्युच्चतमः सुमेरुः ॥ ४ ॥
अत्रिः शताश्रिं हि भृगुः सहस्राश्रिं भागुरिस्तं चतुरस्रमाह ।
सावर्णिरष्टाश्रिमथो समुद्रं वार्षायणिर्गालवकः शरावम् ॥ ५ ॥
तमूर्ध्ववेणीकृतमाह गार्ग्योऽद्राक् क्रौष्टुकिस्तं परिमण्डलं वै ।
य स्तस्य यत् पार्श्वमुपैत् स ऊचे तथा विधाताऽस्य तु वेद कार्त्स्न्यात् ॥ ६ ॥

प्राग्मेरौ देवपुरी परिवृता ब्रह्मपुरी ।

तदूर्ध्वदेशे न्यवसद् विधाता ब्रह्मा वरिष्ठस्त्रिदशालयानाम् ।
*
मनोवती ब्रह्मसभाऽत्र क्लृप्ता तस्यां स्थितं ब्रह्म महाविमानम् ॥ १ ॥
ज्योतिष्मतीन्द्रस्य शुचेस्तु तेजोवती यमस्यात्र सुसंयमाऽऽसीत् ।
कृष्णाङ्गनाऽऽसीन्निर्ऋतोऽप्यतेः सा शोभावती, गन्धवती च वायोः ॥ २ ॥
महोदया सोमसमेशितुः सा यशोवती नाम सभा पुराऽऽसीत् ।
महाविमानानि च तत्र तत्र तेषां तदा ब्रह्मपुरे विरेजुः ॥ ३ ॥

* वराहपुराणे पञ्चसप्ततितमेऽध्याये द्रष्टव्यम्

यन्नाकपृष्ठं त्रिदिवं त्रिविष्टपं स्वर्गं च भूमौ प्रविदुर्विपश्चितः ।
ते देवलोका इत एव मेरुतः स्युरुत्तरस्यां दिशि धातृकल्पिताः ॥ ४ ॥

प्राग्मेरौ गङ्गावतरणम् ।

दैवे युगे मेरुरयं य आसीत् प्राग्मेरुमेनं प्रवदा म नाम्ना ।
यतश्चतुर्गङ्गमुदेति सोऽयं पामीरनाम्ना व्यपदिश्यतेऽद्य ॥ १ ॥
साऽत्युन्नता भूमिरितः प्रदेशादुद्भूय सर्वासु वहन्ति दिक्षु ।
+
नद्यः समुद्रांश्चतुरोऽभिदीर्घास्तद्धि चतुर्गङ्गमिति प्रसिद्धम् ॥ २ ॥
पञ्चविधा इह नद्यः कथिता गङ्गा महानदी शाखा ।
क्षुद्रा कुल्या चासां गङ्गाः साक्षात् समुद्रगा दीर्घा ॥ ३ ॥
गङ्गामेवानुगताः शतयोजनतोऽधिका महानद्यः ।
यास्तु सहायकनद्यस्ता उपनद्यश्च शाखाश्च ॥ ४ ॥
क्षुद्रा नद्यो ग्रीष्मे शुष्काः स्युर्वृष्टिमातृका ह्येताः ।
कुल्या कृत्रिमनद्यस्तासां गङ्गा इहोच्यन्ते ॥ ५ ॥

परमेष्ठिलोकादयां सौरब्रह्माण्डेऽवतारक्रमान् मेरौ चतुर्गङ्गभावः ।

आकाशो हि समुद्रोऽपां लोको वरुण-सोम दैवत्यः ।
तस्मात् सूर्य्ये सूर्य्याच्चन्द्रे मेरौ ततः पतन्त्याप ॥ १ ॥
ध्रुवगास्तु विष्णुपद्य सूर्य्यगतास्ता मरीचिनाम्न्यः स्युः ।
चन्द्रे श्रद्धा आपो मेरौ पतितास्तु गङ्गास्ताः ॥ २ ॥
या हि चतुर्थाल्लोकादाकाशाद् गां गता हि ता गङ्गाः ।
∸
वाराहीयेऽध्याये द्व्यशीतितम एतदाख्यातम् ॥ ३ ॥
परमेष्ठितः प्रवृत्ता ध्रुवविन्दौ ताः प्रविशन्ति विष्णुपदे ।
ता व्योमकेशकेशे रौद्रे गत्वा पतन्ति मेरुपदे ॥ ४ ॥

+ नद्य समुद्राश्चतुरोऽभिसोऽद्य मेरुप्रदेशश्चतुरस्र इष्टः । इति क्रोडपत्रे पाठान्तरम् ।

∸ वराहपुराणेऽगस्त्य प्रति रुद्र उवाच–आकाशसमुद्रो य. प्रोच्यते तस्मादाकाशगामिनी (गङ्गा) नदी प्रवृत्ता सा चानवरतमिन्द्रगजेन क्षोभ्यते । इति (व० पु० अ० ८२)

ये तु तुषारद्रवतो गङ्गां पश्यन्ति शिक्षणीयास्ते ।
ब्रह्मद्रवणाद् धर्मद्रवणं पश्चात् तुषार आद्रवति ॥ ५ ॥
मेरु प्रदेशतस्ता यान्ति चतुर्दिक्षु सागरांश्चतुरः ।
अस्या विष्णुपदीत्वं त्रिस्रोतस्त्वं समुद्रगामित्वम् ॥ ६ ॥
गङ्गया इति लक्षणमेता गङ्गाश्चतस्रः स्युः ।
सीता, चालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति तच्चतुर्गङ्गम् ॥ ७ ॥
शतयोजनविस्तीर्णः पामीरः कथ्यतेऽद्यतनैः ।
उपमेरुः स हि तस्माद् वहति चतुर्दिक्षु तच्चतुर्गङ्गम् ॥ ८ ॥
अष्टसहस्रकरोच्चः पामीरोपत्यकादेशः ।
बहुभिर्ह्रदैः स निचितस्तेभ्यो गङ्गा वहन्ति ता दिक्षु ॥ ९ ॥

सीता पूर्ववाहिनी ।

सीताख्या त्रिस्रोता पूर्वे समुद्रे पृथक् पृथग् विशति ।
ता उच्यन्ते चीने ह्वांगहूर्याङ्गसी च मेकाङ्गः ॥ १ ॥
*
योजनशतत्रयं ते आद्ये अन्त्या शतद्वयं वहति ।
आद्ये पीतसमुद्रे चीनसमुद्रे पराविशति ॥ २ ॥

भद्रोत्तरवाहिनी ।

भद्रैव भद्रसोमा त्रिस्रोता विशति सोत्तरे जलधौ ।
संप्रति तासामाख्या ओबीलीना इनीसी च ॥ १ ॥
योजनचतुःशतावर्गो बीनस्योः प्रवाह आख्यातः ।
योजनशतत्रयोर्ध्वं लीनैशान्यां तु सौबीर्ये ॥ २ ॥

चक्षुः पश्चिमवाहिनी ।

पश्चिमतो या चक्षुः सा वेदे वक्षुराख्याता ।
तदपभ्रंशात् संप्रति चक्षु पौराणिका ब्रुवते ॥ १ ॥
अद्यतना पाश्चात्या "अक् शस्" शब्देन तामाहुः ।
मन्ये वक्षुष एवापभ्रंश सोऽपि संप्रथितः ॥ २ ॥

* ह्वागहू २५०० मील, याङ्गसी २३०० मील, मेकाङ्ग १६०० मील ।

इयमेव यत्तुरुक्ता "जम्बूरिति" भुवनकोशज्ञैः ।
तदपभ्रंशाद् म्लेच्छैः जैहू-अमू" इति च ॥ ३ ॥
"जक्तर्तेस" इतीयं शाखान्या यक्षुषः कथिता ।
मन्ये सैव पुराणे "शैलोदा" स्याद् भुवनकोशे ॥ ४ ॥
जम्बूर्वा यक्षुर्वा निर्गच्छति गन्धमादनतः ।
+
इति भारतस्य भैष्मे पर्वणि कथितं परे त्वाहुः ॥ ५ ॥
हिन्दूकुशत काचन काचन शाखा ह्रदात्तु पामीरात् ।
संभेदतस्तयो सा पश्चिमत पतति काश्यपीयाब्धौ ॥ ६ ॥
यो गन्धमादनोऽद्रि सीम्नि स्वर्गस्य पश्चिमे कथितः ।
तद्भिन्नोऽयं जम्बूप्रभवो मेरोस्तु दक्षिणतः ॥ ७ ॥
"हिन्दूकुश" इति कथित कुलाचलस्तस्य कोऽपि शाखाद्रिः ।
अपि गन्धमादनोऽन्यस्तत्प्रभवा कापि यक्षुषः शाखा ॥ ८ ॥
उद्भूय गन्धमादनगिरितो मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य ।
उत्तरकुरून् प्रधावति जम्बूसरिदिति च भारते कथितम् ॥ ९ ॥
इति काश्यपीयसागर उत्तरकुरुभिश्च सीम्नि संबद्धः ।
अस्तीति रूसदेशस्योत्तरकुरुता प्रतीयते बृहतः ॥ १० ॥
"ओबी"-"नीसी"-"लीना" उत्तर कुरु सरित एव ता भद्राः ।
जम्बूस्तु पश्चिमस्थाऽप्युदङमुखी याति काश्यपीयाब्धौ ॥ ११ ॥

अलकनन्दा दक्षिणवाहिनी ।

दक्षिणतो या गङ्गा वहति ब्रुवते तु तामलकनन्दाम् ।
तस्याः सप्त सहायक नद्यो हिमगिर्य्यधित्यकायां स्युः ॥ १ ॥
वामेऽत्र वसोर्धारा-सरस्वतीविष्णुपातात्यौ ।
गरुडा नन्दा कर्णादक्षे मन्दाकिनी-भगीरथजे ॥ २ ॥

+ भीष्म पर्व

केशवविष्णुभ्यामथ पातालकगरुडनन्दकर्णैश्च ।
*
रुद्रेण च देवेन च लक्ष्म्या आसां प्रयागाः स्युः ॥ ३ ॥

भागीरथ्या गङ्गया दिवि ब्रह्मणस्पतेः संचारः ।

अस्ति चतुर्थे लोके सूर्योर्ध्वं ब्रह्मणस्पतेः सोमः ।
तत्किरणद्रवरूपा हीयं भागीरथी गङ्गा ॥ १ ॥
या आपः परमेष्ठीति प्रथितास्ताः परा गङ्गा ।
भगीरथी तु गङ्गा सास्त्यन्या ब्राह्मणस्पत्या ॥ २ ॥
÷
एषु तपः पवमानः सोमो दिवि राजते तृतीयस्याम् ।
तस्य च पवित्रतमतामृषिः पवित्रो विशिष्याह ॥ ३ ॥
[]
"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्नतदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥
(ऋ० सं० म० ६ अ० ४ ३ क० १)
×
तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्ते अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधितिष्ठन्ति चेतसा ॥
(ऋ० म० ६ अ० ४ सू० ८३ क० २)

---

* एते अष्टौ प्रयागा—
१—भागीरथी—देवप्रयागः ।
२—मन्दाकिनी—रुद्रप्रयाग. ।
३—कर्णगङ्गा—कर्णप्रयागः ।
४—नन्दगङ्गा—नन्दप्रयाग. ।
५—गरुडगङ्गा—गरुडप्रयाग ।
६—पातालगङ्गा—पातालप्रयाग. ।
७—विष्णुगङ्गा—विष्णुप्रयागः ।
८—सरस्वतीगङ्गा—केशवप्रयाग. ।

÷ "तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्" इ (तै० ब्रा० ३।२।१)

[] हे ब्रह्मणस्पते सोम ! तव पवित्रमङ्ग सर्वत्र विस्तृत प्रभविता । त्व पातुरङ्गानि परिगच्छसि । सर्वत्र ते तत् पवित्रमतप्ततनूर्व्रतादिभिरसंतप्तगात्र. परिपक्वो न आप्नोति । शृताः परिपक्वा एव याव निर्वहन्तस्तत्पवित्रं समाशत ।

× तपो शत्रूणा तापकस्यास्य सोमस्य पवित्रमङ्ग द्युलोकस्योच्छ्रिते स्थाने विस्तृतमस्ति । अस्यांशवो दीप्यमाना विविध तिष्ठन्ति । आशवो रसाश्चास्य पावयितार रक्षन्ति । ततश्च द्युलोकस्य पृष्ठभागमर्थादुन्नत देश चेतसाऽऽश्रयन्ते ।

भूमौ बिन्दुसरसस्तत्प्रचारः ।

योऽद्रिर्हिरण्यशृङ्गः काञ्चनबालकसरोऽस्ति तत्पादे ।
रुद्रजटाख्यैः पतितैर्विष्णुपदात् क्लृप्तमम्भोभिः ॥ १ ॥

बिन्दुसरस्तत् तस्माद् भागीरथ्यवतरत्यसौ गङ्गा ।
अन्तर्भूमौ चलिता क्रौञ्चगिरेः प्राग्गिरौ बहिर्भवति ॥ २ ॥

विष्णुपदोदकहेतोर्विष्णुसरस्तत् पुराण आख्यातम् ।
अत्यन्तसूक्ष्मबिन्दुभिरुक्तं तेन बिन्दुसर आहुः ॥ ३ ॥

अद्य तु बिन्दुसरस्तत् पामीरकुलं सरीकुलं वोक्तम् ।
स ह्रदः समुद्रपृष्ठादुच्चांशे ननगलोपमिते ॥ ४ ॥

(१३३०० फीट)

(हस्तशतैः पादोनितसप्ताशीत्युन्मितैः स उच्चोऽर्ध्वेः ८६७६ हस्ताः)

साङ्घ्रौ सप्तत्रिंशेऽक्षांशे (३७।१४) स ह्रदोऽस्ति पामीरे ।
प्रथमे तु पश्चिमांशे देशान्तर इति वदन्ति विद्वांसः ॥ ५ ॥

जलमस्ति सर्वसरितामसृतरसं मेध्यमतिपवित्रं च ।
किन्त्वत्र भूमिवाय्वादित्यरसानां विकारिणां विकृतिः ॥ ६ ॥

यत्त्वम्बु बिन्दुसरसस्तदलौकिकमस्ति पुण्यतमम् ।
तत् कर्मबन्धवर्द्धकहृद्ग्रन्थ्युद्घाटनप्रवणम् ॥ ७ ॥

राजा भगीरथोऽस्मात् सरसो देवप्रयागपर्यन्तम् ।
निर्माय खातमेतज्जलमानयदलकनन्दायाम् ॥ ८ ॥

नोत्पद्यन्ते अस्मिन्नुदके क्रमयः शताधिकेऽप्यब्दे ।
भागीरथीप्रविष्टाः सरिदापः स्वगुणतो विहीयन्ते ॥ ९ ॥

अपि परमेष्ठिसमुद्रात् सोमपदादागतं पुण्यम् ।
भागीरथ्या एतज्जलमन्यैर्दूष्यते न जलैः ॥ १० ॥

भागीरथ्या एतज्जलमाहात्म्यं पुरा प्रबलमासीत् ।
कलिवर्षेभ्यस्तूर्ध्वं पञ्चसहस्रेभ्य एष नास्ति गुणः ॥ ११ ॥

म्लेच्छानां सहवासाद् भू-रसपरिणामवैशेष्यात् ।
विकृत-दुष्ट रसाधिकवेधादपि तद्गुणो नष्टः ॥ १२ ॥

आदिगङ्गायाः सप्तस्रोतस्त्वम् ।

सा सोमपादसूता पुण्या भागीरथी गङ्गा ।
स्वरसं सप्तस्रोतस्त्वाधाय प्रवहतीत्याहुः ॥ १ ॥
नलिनी ह्लादिन्यन्या पावन्यन्येति पूर्वतस्तिस्रः ।
अद्यत्वेऽमी नामा इरावती ब्रह्मपुत्रा च ॥ २ ॥
ह्लादिन्येव सरस्वत्युक्ता वस्वोकसारा च ।
तत्कूले प्रागासीन्नगरी वस्वोकसाराऽन्या ॥ ३ ॥
*
कोशगधनदाधिकृता धनकोशपुरी हि सा महेन्द्रस्य ।
सौन्दर्य्ये तत्सदृशी नगरी नासीत् पुरा काचित् ॥ ४ ॥
योजनसार्द्धद्विशतं नलिनी ह्लादिन्युपैति सार्द्धशतम् ।
योजनशतद्वयादप्यधिकगतिर्ब्रह्मपुत्रैषा ॥ ५ ॥
शीता (सीता) चक्षुः सिन्धु-तिस्रोऽप्येतास्तु पश्चिमा धाराः ।
शीता (सीता) सैहूत यस्याः कूले कोकन्द-तासकन्दौ स्तः ॥ ६ ॥
योजनशतं तु सार्द्धं चक्षुः सीता विशत्यरालाब्धौ ।
+
जम्बूनद्यां क्वचिदपि जाम्बूनदनाम लभ्यते स्वर्णम् ॥ ७ ॥
योजनशतद्वयादप्यधिकगतिः सिन्धुरप्येषः ।
स ब्रह्मपुत्रतुल्यो भारतदक्षिणसमुद्रमायाति ॥ ८ ॥
प्राच्यामुक्ता 'सीता' दन्त्यसकारेण गद्यते साऽन्या ।
एषा तु या प्रतीच्यां तत्र शकारोऽस्ति तालव्यः ॥ ९ ॥
यक्षुर्जम्बूर्यद्यपि कथिता धारा चतुर्गङ्गे ।
किन्त्वन्या शाखाऽन्या जक्षर्तेस् सैव शैलोदाः ॥ १० ॥

* "यथा च महाभारते द्रोण पर्वणि संजयं प्रति नारद. नैतादृश दृष्टपूर्व कुबेरसदनेष्वपि ।
धन च पूर्यमाण नः किंपुनर्मनुजेष्वपि, व्यक्त वस्वोकसारेन्द्रमित्यूचुस्तत्र विस्मिता. ॥"
(महा भा० द्रो० प० ६७।१५)

+ "रसेन तेन विख्याता तत्र जाम्बूनदीति वै । सरित् प्रवर्त्तते सा च पीयते तन्निवासिभि ॥
न स्वेदो न च दौर्गन्ध्य न जरा नेन्द्रियक्षय· । तत्पानस्वस्थमनसा जनाना तत्र जायते ॥
तीरमृत्त तद्रस प्राप्य सुखवायुविशोषिता । जम्बूनदाख्य भवति सुवर्ण सिद्धिभूषणम् ॥"
(पुराणवचनम्)

एवं सिन्धोः शाखे द्वे मिलिते सिन्धुरेकाऽभूत् ।
*
मानसतः पश्चिमगा ग्रामीराद्दक्षिणाभिमुखी ॥ ११ ॥
भागीरथी तु सप्तम्येषा दक्षिणमुखी वहति ।
\+
बिन्दुसरस्तः सप्ताप्येता दक्षिणसमुद्रमुपयन्ति ॥ १२ ॥

भागीरथ्या गङ्गायाः सप्तस्रोतस्त्वभावः ।

अन्ये त्वाहुः केवलमेका भागीरथी गङ्गा ।
बिन्दुसरस्तः प्रसृतालकनन्दायां समन्वेति ॥ १ ॥
अन्ये तु सप्तगङ्गं ब्रुवते मेरोः प्रवाहितं पादात् ।
प्राच्यां तिस्रो नलिनी ह्रादिन्यथ पावनी चेति ॥ २ ॥
तिस्रः पश्चिमदिक्स्थाः शीता चक्षुश्च सिन्धुश्च ।
भागीरथी तु सप्तम्येषा भारतगताऽवाच्याम् ॥ ३ ॥
अपरे त्वाहुर्नैषा भागीरथ्यस्ति सप्तगङ्गेऽस्मिन् ।
तद्व्यादिसृष्टिकालं मन्दाकिन्यत्र सप्तमी नेया ॥ ४ ॥
भागीरथी तु कुल्या काले राज्ञा भगीरथेनैषा ।
बिन्दुसरस्तो नीत्वाऽलकनन्दायां प्रवर्तिता प्राग्या ॥ ५ ॥

सप्त कुलपर्वताः ।

सप्तविधोऽद्रिर्मेरुर्महाकुलाद्रिश्च खण्डकुलशैलः ।
शाखाद्रिः पादाद्रिः स्तूपाद्रिर्भूतलाद्रिश्च ॥ १ ॥
योऽद्रि शृङ्गविहीनोऽनुच्चविधो भूसमानतलः ।
सोऽन्तर्भूमिनिगूढो भूमिसमो भूतलाद्रिः स्यात् ॥ २ ॥
यस्त्वन्नराशिवत् स्यात् प्रोत्तुङ्गैकप्रगाढकूटात्मा ।
शाखापादविहीनः स स्तूपाद्रिर्विदूरतो दृष्टः ॥ ३ ॥
धवलगिरि. कैलासो गौरीशङ्करगिरिश्च हेमाद्रौ ।
अन्येऽप्येवं बहवः सन्ति स्तूपादयस्तुङ्गाः ॥ ४ ॥

* गिलगिट्प्रदेशस्था ।

\+ नलिनी, ह्रादिनी, पावनी, शीता, चक्षु. सिन्धु, भागीरथी चेति पूर्वोक्ता सप्त नद्यः ।

ये तु कुलाद्रिश्रेण्यां क्षुद्राः शैला इतस्ततो व्यस्ताः ।
ते पादाद्रय उक्तास्तेषां नामानि न प्रायः ॥ ५ ॥
ये तु कुलाद्रेर्भागा दीर्घाः शैलाः पृथक्-पृथग् दृष्टाः ।
शाखाद्रयस्त उक्तास्तेषां व्यूहं कुलाचलं ब्रुवते ॥ ६ ॥

अष्टदिक्षु विततानि वर्षविभागेनाष्टौ पद्मपत्राणि ।

विष्णावाश्रिते यज्ञदेशे नाक आसीत् तदाश्रिते ।
क्लृप्ते स्वमण्डले लोकपद्मं प्राग्मेरुकर्णिकम् ॥ १ ॥
वामनपुराण उक्तं मध्यमिलावृतमतोऽष्टदिक्षु ।
अष्टौ समा विभागा विषुवान्तास्तानि पद्मपत्राणि ॥ २ ॥
भारतवर्षं दक्षिणमाग्नेय्यामस्ति कैन्नरं वर्षम् ।
पौरस्त्यं भद्राश्वं हिरण्मयकं वर्षमैशान्याम् ॥ ३ ॥
उदगुत्तरकुरुवर्षं वायव्यामस्ति रम्यकं वर्षम् ।
पश्चात्तु केतुमालं नैर्ऋत्यामस्ति हरिवर्षम् ॥ ४ ॥
अथ कालेन वर्षाणि संवेश्य तु भिन्नवत् ।
प्राच्यां प्रतीच्यामेकैकं त्रीण्यवाच्यां तथोत्तरे ॥ ५ ॥
भारतकिन्नरहरयोऽवाच्यां मेरोरुदीच्यां तु ।
रम्यहिरण्यककुरवो मेरुस्थाने त्विलावृतं वर्षम् ॥ ६ ॥
एवं वर्षविभागे चतुर्दलं लोकपद्मं तत् ।
क्लृप्तं भवति बर्हिर्धा स्वर्गाद्वर्षाणि पत्राणि ॥ ७ ॥

प्रकारान्तरेण चत्वारि पद्मपत्राणि ।

"भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा ।
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्य्यादा शैलबाह्यतः ॥"
(ब्रह्म० पु० अ० १६, श्लो० ४५)

इलावृतसीमागिरयः ।

मेरुर्हिमालयः शृङ्गी, माल्यवान्, गन्धमादनः ।
हेमकूटश्च ऋषभो, नीलः श्वेतश्च पर्वताः ॥ १ ॥
पार्थिवस्वर्गसीमानो नवैते कुलपर्वताः ।
पर्वताः श्रेणिरूपास्ते पादपर्वतसंकुलाः ॥ २ ॥

हिमवान् दक्षिणी सीमा, शृङ्गवानुत्तरे स्थितः ।
माल्यवान् पूर्वसीमाऽस्ति, पश्चिमे गन्धमादनः ॥ ३ ॥
तेषां बहिर्धा भूभागो वर्षं तद् पद्मपत्रवत् ।
मेरुस्तु मण्डलं ब्रह्मसदनं मध्यकर्णिका ॥ ४ ॥
कदम्बमण्डलं विष्णुस्तन्नाभिकमले ध्रुवः ।
सूर्य्यो यज्ञः स वै विष्णुस्तन्नाभौ पद्ममस्ति भूः ॥ ५ ॥
दिव्यब्रह्मा पृथिव्यन्तो ध्रुवपद्मे यथास्थितः ।
नरब्रह्मा यथा मेरुपद्मे देवान् शशास ह ॥ ६ ॥

उपसंहारः ।

इत्थं जगद्गुरुर्ब्रह्मा लोकसृष्टिं विधाय वै ।
अलं विस्तारयामास मध्येलोकं स्ववैभवम् ॥ १ ॥

॥ इति लोकसृष्टिप्रकरणम् ॥

अथ धर्म्मसृष्टिः ।

उत्पत्तिशिष्टं पृथगस्ति धर्म्मं यज्जन्मसिद्धं सहजं स्वरूपम् ।
उत्पत्तिशिष्टं पृथगस्य धर्म्मं संस्कारसिद्धं यदिहोपजातम् ॥ १ ॥
धर्म्मो हतो हन्ति स एष धर्म्मः संरक्षितो रक्षति चाश्रयं स्वम् ।
दुग्धे द्रवत्वं विहतं विहन्याद् दुग्धं तदर्थान्तरवद् दधि स्यात् ॥ २ ॥
मनुष्यरूपं खलु जन्मसिद्धं मनुष्यधर्म्माः सहजाः प्रक्लृप्ता. ।
राजत्वरूप त्विह कर्म्म सिद्धं संस्कारधर्म्मान्वित एव राजा ॥ ३ ॥
स क्षात्रधर्म्मो विहतो विहन्याद् राजानमेषोऽस्ति न तर्हि राजा ।
मनुष्यधर्म्मो विहतो विहन्यान् मनुष्यतां नैष तदा मनुष्यः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिविरचित जगद्गुरुवैभवग्रन्थः ।



* शुद्धि-पत्रम् *

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चभूवेह	बभूवेह	१	१८
पूर्ब	पूर्व	१	१६
बर्ष	वर्ष	२	१२
गृह्णत्यनृतं	गृह्णन्त्यनृतं	२	२२
भातवर्षभूमौ	भारतवर्षभूमौ	२	२७
षृथ्वी	पृथ्वी	६	४
तद्द्वय	तद्द्वयं	७	१२
तत्रस्तु	त्रयस्तु	६	६
अन्तसंज्ञ	अन्तः संज्ञ	६	२१
विभर्ति	बिभर्ति	१०	१०
भृग्वङ्गिरसो	भृग्वङ्गिरसोः	१०	१८
समन्विताः	समन्विता	११	६
सोऽमवद्	सोऽभवद्	१२	११
षुरुषा	पुरुषा	१२	१२
सृष्ठिः	सृष्टिः	१३	१
दम्मते	दम्यते	१३	२६
वृहस्पतिर्वा	बृहस्पतिर्वा	१४	६
र्यस्मि तु	यस्मिंस्तु	१६	४
स्थिता	स्थिताः	१६	४
ऽवसम्	ऽवसन्	१६	१३
सङ्ग	संज्ञ	१७	२१
श्चतुषष्ठिः	श्चतुःषष्टिः	१८	१
षट् त्रिशद	षट्त्रिंशद	१८	१०
प्रतिपत्य	प्रतिपत्त्य	१८	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
प्रथगात्म	पृथगात्म	१८	१३
सत्व	सत्त्व	१६	४
ऽअङ्गिरेसे	ऽङ्गिरसे	२१	६
स्वम्	त्वम्	२२	१५
कोश	कोश	२२	१७
सन्त्यृयो	सन्त्यृषयो	२२	२३
ध्रुवो	ध्रुवे	२४	८
याज्ञकीं	याज्ञिकीं	२४	२०
भेदाद्	भेदात्	२५	६
ध्यात्म	ध्यात्म	२७	१८
मन्त्रा	मन्त्राः	२८	२१
द्रुघनु	द्रुघनः	२६	१३
साङ्ग्रहो	सङ्ग्रहो	२६	२०
निवेदन	निवेदनं	३०	३
नृणाम्	नृणाम्	३०	५
पूव	पूर्व	३०	१३
क्रदिन्द्र	क्र·दिन्द्र	३०	१७
पूव	पूर्व	३०	१८
धेनु	धेनुं	३०	२५
त	न	३०	२६
सबनानिं	सवनानि	३१	२३
महीचित्	महींचित्	३१	२४
द्वय	द्वय	३२	२
ददो	ददौ	३२	१५
मराडलर्वाञ्च	मराडलाद्र्वाञ्च	३४	२३
नाकं	नाके	३६	२४
स्गर्व	स्वर्ग	२४	२४
क्वर	क्बर	३८	१८
विवक्ता	विवक्तां	४०	२४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
त्यापरिणा	व्यापारेण	४०	२६
द्युलोक	द्युलोक	४४	२२
अन्नस्या	अनभस्या	४६	१०
जैबे	जैवे	४७	१५
अथर	अथ	४६	१३
स्यु वयोनी	स्युर्देवयोनी	४६	२३
मनुष्वत्वम्	मनुष्यत्वम्	५०	१२
श्रद्ध	श्रद्धा	५१	४
क्लत्ता	क्लप्ता	५१	१०
मम्या	मस्या	५१	१६
ऽरय	ऽस्य	५१	१७
तयो	तयोः	५१	२५
द्रुहिणा	द्रुहिण	५२	३
वाह्य	बाह्य	५४	१
यस्तरय	यस्तस्य	५४	१०
मेरुज	मेरुजा	५४	२६
प्रविद्धा	प्रविद्धा	५५	१४
संप्रवृत्ता	संप्रवृत्तौ	५५	२१
विन्दौ	बिन्दौ	५५	२२
रविस्त्यय	रविरस्त्ययं	५७	१
सूर्य्यय	सूर्य्यस्य	५७	१०
पैङ्यपीयम	पैशङ्यमपीयम्	५८	१२
व्यद्धात्	व्यद्धात्	५८	१६
प्रतिमाः	प्रतिभा	६१	२४
ध्रुवश्चङ्क्रमणं	ध्रुवश्चङ्क्रमण	६२	१
सूर्यस्यामिजिद् भाद्	सूर्यस्याभिजिद्भाद्	६३	३
स्वस्वस्तिकं	खस्वस्तिकं	६३	१४
द्विचत्वारिंशे	द्विचत्वारिंशे	६३	२४
ऽष्टभिते	ऽष्टमिते	६३	२५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
ऽसब्द्धयेनोत्तरे	ऽशद्धयेनोत्तरे	६३	२५
यद्ग	यद्र्	६४	२
सहस्राणि	सहस्राणि	६४	११
सहस्त्रै.	सहस्त्रैः	६४	१२
त्रिबिष्टंप	त्रिविष्टपं	६६	१
प्रवदाम	प्रवदामि	६६	४
लोकादर्या	लोकादपां	६६	१४
भिसोऽयं	भितोऽयं	६६	१३
भगीरथी	भागीरथी	६६	७
स्पृष्ठ	स्पृष्ट	६६	१४
स्रोतस्वा	स्रोतःस्वा	७१	२
सिन्धु-तिस्रो	सिन्धुस्तिस्रो	७१	१२
तीरभृत	तीरभृत्	७१	२७
बर्हिर्धा	बहिर्धा	७३	१६
षद्म	पद्म	७३	२०

* इति शुभम् *



समीक्षाचक्रवर्ती स्वर्गीय पं० मधुसूदन ओझा विद्यावाचस्पति
के मुद्रित ग्रन्थों का

सूचीपत्र

नाम	विवरण	मूल्य
१ जगद्गुरुवैभवम्- हिन्दीभाषानुवाद)	मे कई हजार वर्ष पहिले के वैदिक आदि ब्रह्मा का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकारका वर्णन है, ब्रह्मा कौन थे, कबथे, कहा थे, इत्यादि बातों का सविस्तार विवेचन है। प्रकरणागत पुराणों की उत्पत्ति भी समझाई गई है। बहुतही प्राचीन इतिहास तथा भौगोलिक विषय का यह अपूर्व ग्रन्थ है।	३)
२—इन्द्रविजय-	मे भौम, दिव्य और शरीर इन त्रैलोक्यों का विवेचन, भारतवर्ष तथा हिन्दुस्थान दोनों नामों का विवरण, पूर्व कालिक भारतवर्ष की सीमा, नदी, पर्वतादिकों के प्राचीन नाम और स्थान, भारतवर्ष की प्राक्तन विद्या, बुद्धि और समृद्धि वर्णन तथा लङ्काद्वीप, मालयद्वीप का लङ्का का एक अंश होना और सिंहलद्वीप का लङ्का न होना इत्यादि बाते अनेक प्रमाणों से सिद्ध की गई है। आर्य-लोग बाहर से आये इस कल्पना को भी युक्ति प्रमाण से निर्मूल सिद्ध किया गया है। देव युगीय आर्यों और दस्युओं के द्वादश महासंग्रामों का भी वर्णन है और अनेक प्रकार के दिव्यशस्त्रों तथा औषधियों का विज्ञान बतलाया है। सक्षेप मे वैदिक इतिहास और भूगोल का अत्यन्त विमर्श पूर्ण विवरण है।	३)
३—सदसद्वाद-	मे सत्, असत्, और सदसत इन तीन तत्वोंको सृष्टि का मूल मानकर उनका वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और प्रसगवश जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्छा, मृत्यु और मोक्ष इस प्रकार जीवात्मा की ७ अवस्थाओं के वर्णन है।	॥)
४—व्योमवाद-	मे आकाश ही सृष्टिका प्रभव प्रतिष्ठा और प्रलयस्थान है इसका विवेचन है।	।)

नाम	विवरण	मूल्य
५ —अपरवाद—	मे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि और पुरुष इन सात तत्त्वों के पारस्परिक सयोग से विश्व की उत्पत्ति का समर्थन किया गया है।	I)
६ —आवरणवाद—	मे वय, वयुन और वयोनाध नामक तीन तत्वो से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। वस्तु के उपादान रूप प्राण को वय, वस्तु को वयुन और परिच्छेद को वयोनाध कहते है इन तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन किया गया है।	I)
७ —अम्भोवाद—	में जलको जगत् क उत्पत्ति और प्रलय का कारण बताकर, जलकी घन तरल और विरल अवस्थाओं को समझाकर उसकी मूल कारणता सिद्ध की गई है।	II)
८—अहोरात्रवाद—	मे प्रकाश (अह) और तम (रात्रि) इन दोनों तत्वों के ज्ञान, अज्ञान आदि १० भेदों का और उनसे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। प्रसङ्गात सूर्य, पृथ्वी के स्थिरत्व, चलत्व का भी वेदानुकूल विमर्श किया गया है और मूलात्मा, हसात्मा शिवात्मा इन तीन भेदों मे विभक्त तीनों आत्माओं का सुविशद निरूपण है।	II)
९ —संशयतदुच्छेदवाद—	मे सृष्टि के विषय मे जितने मत भेद है उनका निरूपण करके निराकरण किया गया है। परमेश्वर, ईश्वर, जीव, आत्मा, सुख, दु.ख, जन्म, मृत्यु, उपासना, मोक्ष आदि अनेक दुरुह विषयों का निरुपण करके वैज्ञानिक रिति से उत्तर दिया गया है। यह ग्रन्थ यथार्थ मे ब्रह्मविज्ञान के विषयों के सशय का उच्छेद करने वाला उत्तम विवेचन पूर्ण बड़ा उपयोगी है।	१)
१०—दशवादरहस्य—	में जैसे आज कल षड्दर्शन है वैस ही वैदिककाल मे दशवाद प्रचलित थे उसी दशवादों का सक्षिप्त विवरण है।	II)
गीताविज्ञानभाष्य—		
११—प्रथम रहस्यकाण्ड—	मे गीता के आचार्य श्रीकृष्ण, गीता के नामरहस्य, शास्त्ररहस्य और विषय रहस्य इनके वैज्ञानिक विवेचन किये गये है।	२)
१२—द्वितीय मूलकाण्ड—	में ४ विद्या, २४उपनिषद१६० उपदेशोंका विभाग दिखायाहै	२)

नाम	विवरण	मूल्य
शारीरकविज्ञानभाष्य		
१३–प्रथम भाग १४–द्वितीयभाग	में ब्रह्मसूत्रों के श्रीशङ्कर, श्रीरामानुज और श्रीवल्लभादि प्रसिद्ध आचार्यों के भाष्यों का सङ्क्षिप्त विवेचन करते हुए कहीं कहीं वैज्ञानिक रीत्यां अपने सिद्धान्तका भी निरुपण किया है।	१॥) १)
१५–शारीरक विमर्श–	मे प्रकृत ग्रन्थ मे स्वतन्त्ररूप से शारीरक दर्शन के विषयों पर आलोचनात्मक प्रकाश डाला है उसका सार सकलन वैज्ञानिक ढग से किया है और सरलतासे समझने के लिये कई चित्र भी दिये गये है। यह ग्रन्थ बहुत महत्वका है।	
१६–विज्ञानविद्युत–	मे वैदिक विज्ञान मे प्रविष्ट होने वालों के बोध सौकर्य के लिये वैदिक परिभाषाये सरलता से समझाई गई हैं।	।॥)
१७–ब्रह्मविज्ञान प्रवेशिका (हिन्दी भाषा)	में ब्रह्मविज्ञानका प्रारम्भिक परिभाषा हिन्दी मे समझायों गयाहै	॥)
१८–ब्रह्मविज्ञान– (हिन्दीभाषा)	मे ब्रह्मविज्ञान के विषय मे अनेक सशयों को दूर करते हुये सृष्टिके विषय मे मतभेदों का निरूपण तथा निराकरण किया गया है। परमेश्वर, ईश्वर, जीवका परस्पर सम्बन्ध सुख, दुःख जन्म, मृत्युके कारण। आत्मा, मुक्ति के भेद। यज्ञ, तप, दान उपासना का रहस्य आदि तथा अनेक विषयों के शङ्का समाधान पूर्वक बहुत विशदरूप से वैज्ञानिक विवेचन किया गया है जिससे ब्रह्मविज्ञान का विषय भली प्रकार समझा जा सके। यह ग्रथ हिन्दीभाषा में होनेके कारण बड़ा उपयोगी है। जो विषय अनेक शास्त्रों के अवलोकन से वर्षों में अच्छी तरह समझ में नहीं आता है वह इसके अवलोकन से बहुत सरलता से जाना जा सकता है।	३॥)
१९–ब्रह्मचतुष्पदी–	में १–प्रजापति, २–विराट्, ३–आत्मा और ४–आत्मगति इन चार पदार्थों का सुविशद वैज्ञानिक विवेचन है। इसके यथाविधि अध्ययन से वैदिक विज्ञान की अनेक ग्रथियां सुलझाई जा सकती है।	१॥)

नाम	विवरण	मूल्य
२०—ब्रह्मसमन्वय—	में निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर इत्यादि आत्मतत्वों का और उनसे सृष्टि आदिका बडा सुन्दर वैज्ञानिक विवरण सिद्धान्त दृष्टि से किया गया है। यह ग्रन्थ वेदोंके वैज्ञानिक स्वरूप समझने के लिये विशेष उपयोगी है।	१॥)
२१—देवतानिवित्—	में याज्ञिक देवताओं का वर्णनात्मक वैज्ञानिक सग्रह है प्रसङ्गत. प्राणविद्या, यज्ञविद्या, आत्मगति विद्या आदि आवश्यक विषयों का वर्णन है। शरीर में कितने आत्मा है उनका तत्व समझाया गया है।	१)
यज्ञमधुसूदन— २२स्मार्तकुण्डमर्मीक्षाध्याय	में स्मार्त सम्बन्धी कुण्डोंका सचित्र निरूपण कियागया है।	१)
२३—यज्ञोपकरणाध्याय—	में यज्ञ सामग्री का सचित्र वर्णन है।	१)
यज्ञविटपाध्याय-	में यज्ञों के भेद समझाये गये हैं।	
कमानुक्रमणीकाध्याय—	में याज्ञिक कर्मों की क्रमबद्ध सूची है	
२४—अत्रिख्याति—	में अत्रिऋषि और उसके वंशका वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दोनों प्रकार का वर्णन विशदरूप से किया गया है। प्रसङ्गात 'प्रतिष्ठानपुर" किस जगह है इसका भी विमर्श किया गया है।	१)
२५—वैदिककोष—	में अमरकोष के ढग से कठिन वैदिक शब्दों का बडा सुन्दर सग्रह है। इसके उत्तरार्द्ध में बृहद्देवता का दैवत प्रकरण भी सगृहीत करदिया गया है।	॥)
२६—कादम्बिनी— (हिन्दीभाषानुवाद)	में वर्षा सम्बन्धी सभी विषय हिन्दी भाषानुवाद सहित बहुत ही स्पष्ट और सरलता से बताये गये हैं। वर्षाके गर्भ धारण, १२ महिनों के प्रत्येक दिन के लक्षण तथा योग, गर्भ आदि अच्छे शकुन होते हुए भी वर्षा न होनेका कारण और अनेक प्रकार के प्रश्नों तथा परिक्षाओं से शीघ्र वर्षा होना न होना जाना जाय ऐसी बहुतसी बाते लिखी गई है। भिन्न२ देशोंके सुभिक्ष, दुर्भिक्ष आदि के विषय में भी लिखा गया है। प्रसङ्गात भूकम्प, उल्कापात आदि कई विषयों का भी कारण बताया गया है।	४)

नाम	विवरण	मूल्य
२९–पितृसमीक्षा–	में पितृत्व का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।	॥)
३०–कौषीतकोपनिषद्	ये प्राचीनग्रन्थ उत्तम रूपसे सम्पादित किये गये है,	।≈)
३१–ऐतरेयोपनिषद्–	जिससे इसका अर्थ भली प्रकार समझा जा सके।	।)
		३३।≈)

१ प्रत्यन्त प्रस्थानमीमांसा
२ आशौचपञ्जिका
३ वेदधर्मव्याख्यान

इनकी प्रथमावृत्ति खतम होचुकी है अब द्वितीयावृत्ति होंगी।

अमुद्रित ग्रन्थों की सूची।

१ ब्रह्महृदय
२ ब्राह्मणहृदय
३ उपनिषद्हृदय
४ गीता तृतीय आचार्यकांड
५ गीता चतुर्थ हृदयकांड
६ दर्शनहृदय
७ निगमबोध
८ रजोवाद
९ अमृतमृत्युवाद
१० दैववाद
११ सिद्धान्तवाद
१२ वैश्वरूपनिवित्
१३ सत्यनिवित्
१४ आत्मनिवित्
१५ वेदनिवित्
१६ ऋषिनिवित् (महर्षिकुल वैभव)
१७ भूतनिवित्
१८ वेदार्थभ्रमनिवारण
१९ अधियज्ञविज्ञान
२० ब्रह्मगिरि
२१ ब्रह्मद्रवी
२२ ब्रह्मविनय
२३ साइन्सप्रदीप
२४ पञ्चभूत समीक्षा
२५ शारीरक साइन्सप्रदीप
२६ स्वर्ग सन्देश

(यज्ञ मधुसूदन)

२७ यज्ञविहारीध्याय
२८ मन्त्रप्रचरणाध्याय
२९ आध्यात्मिकाध्याय
३० आधिदैविकाध्याय
३१ यज्ञोपपादनाध्याय
३२ यज्ञसरस्वती
३३ छन्दोभ्यस्ता
३४ शुल्वसूत्र
३५ स्थालीपाक
३६ आधान
३७ अग्निहोत्रपद्धति
३८ दर्शपूर्णमासपद्धति
३९ आग्रायण
४० चातुर्मास्यपद्धति
४१ निरूढ पशुबन्ध
४२ अहीनद्वादशाहपद्धति
४३ ज्योतिष्टोम
४४ चयनपद्धति

इत्यादि और भी ग्रन्थ हैं जिनका संकलन हो रहा है और प्रकाशन का कार्य भी यथा शक्य किया जारहा है।



पुस्तक प्राप्तिस्थान—

मैनेजर,

श्रीमधुसूदन वैदिक विज्ञान प्रकाशक कार्यालय

विद्याधर रोड,

जयपुर सिटी (राजपूताना)

